काव्य-कौस्तुभ

(मध्यकालीन काव्य-संग्रह)

सम्पादक
डा. रामस्वरूप त्रिपाठी

नालन्दा प्रकाशन, आगरा

काव्य-कौस्तुभ

(मध्यकालीन काव्य-संग्रह)

(आगरा विश्व विद्यालय के बी० ए० (प्रथम वर्ष),
हिन्दी साहित्य, द्वितीय प्रश्न-पत्र हेतु
निर्धारित पाठ्य पुस्तक)

सम्पादक

डॉ० रामस्वरूप त्रिपाठी

एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (दर्शन), पी-एच० डी०
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी-विभाग,
आगरा कॉलेज, आगरा

नालन्दा प्रकाशन

१६ बंशी बाजार, मदन मोहन दरवाजा,
आगरा-२

प्रकाशक : नालन्दा प्रकाशन
१६ वंशी बाजार, मदन मोहन दरवाजा, आगरा-२८२००२

मूल्य : रु० ६.८० पैसे
(छः रुपये अस्सी पैसे)

मुद्रक :
शक्ति प्रिन्टर्स
16/260, शीतला गली,
आगरा

विषय-सूची

भूमिका

हिन्दी-कविता का इतिहास

हिन्दी का उदय—आर्य-भाषा परिवार की मूल भाषा वैदिक भाषा मानी जाती है, जिसे विद्वज्जन 'छंदस्' नाम से पुकारते हैं। सामान्यतः इसे 'संस्कृत' कहा जाता है। इसी के समानान्तर चलने वाली लौकिक भाषा भी 'संस्कृत' नाम से ही अभिहित की जाती है। 'संस्कृत' भाषा से ही शनैः शनैः उच्चारण-सुविधा के कारण एक नयी भाषा विकसित हुई, जिसे 'प्राकृत' कहा गया। विभिन्न देशगत सीमाओं में प्रसारित प्राकृत में प्रदेशीय अन्तर आते गये और उसके शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि भेद सामने आये। धीरे-धीरे प्राकृत भाषाओं के साहित्यिक स्वरूप धारण कर लेने पर लोक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उदय एवं विकास हुआ। इस भाषा को भी साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और इसके हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती आदि नाना देशगत रूप विकसित हुए। इस प्रकार, संस्कृत से आरम्भ हुई भाषा-विकास की यात्रा में अपभ्रंश से हिन्दी का उदय हुआ।

अपभ्रंश साहित्य में ही हमें हिन्दी के अंकुर फूटते हुए दिखाई देते हैं। विक्रमी संवत् ७०० में रचित अपभ्रंश काव्यों से ही हिन्दी आकार ग्रहण करने लगी थी। इसलिए अनेक साहित्यकारों ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' भी कहा है, तथापि अपभ्रंश हिन्दी नहीं है। हाँ, उससे हिन्दी को जन्म अवश्य मिला है। विक्रमी संवत् १०५० तक आते-आते हिन्दी का अपना स्वतन्त्र स्वरूप स्पष्ट हो उठा था। इसीलिए हिन्दी साहित्य का आरम्भ इसी समय से विद्वज्जनों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत है।

हिन्दी कविता : काल विभाजन और नामकरण—अनेक विदेशी और भारतीय विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को विभिन्न काल-सीमाओं में बाँटकर उनके नामकरण किये हैं, जिनमें सर्वाधिक सुख्यात एवं प्रायः मान्य मत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। आचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० से अब तक के हिन्दी के काव्य इतिहास के नामकरण एवं काल-विभाजन को अग्रलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

१. आदिकाल—वीरगाथा काल—संवत् १०५० से १३७५ तक
२. मध्यकाल—
(i) पूर्व मध्यकाल—भक्तिकाल—संवत् १३७५ से १७०० तक
(ii) उत्तर मध्यकाल—रीतिकाल—संवत् १७०० से १९०० तक
३. आधुनिक काल— संवत् १९०० से अब तक

आचार्य शुक्ल से मतभेद रखते हुए अनेक साहित्येतिहासकारों—मिश्रबन्धु, डॉ० रामकुमार वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त आदि—ने अपने मत व्यक्त किये हैं, तथापि मोटे तौर पर शुक्लजी का विभाजन ही अधिकाधिक मान्य है। इसके आधार पर हिन्दी कविता के इतिहास को हम चार कालों—वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल—में बाँटकर समझ सकते हैं।

वीरगाथा काल (संवत् १०५०-१३७५)—

हिन्दी काव्य के इस प्रथमकाल को आदिकाल, वीरगाथा काल, चारण-काल, सिद्ध-सामन्त काल आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस काल में वीर गाथाओं के प्राधान्य को आधार मानते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वीरगाथा काल' नाम दिया है। नवीन शोधों से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि हिन्दी-काव्य का सृजन नवीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था, तथापि इस काल की अवधि संवत् १०५० से संवत् १३७५ ही प्रायः मान्य है।

युगीन परिस्थितियाँ—यह काल भारतीय इतिहास का वह युग था, जिसमें भारत रजवाड़ों में बँटा हुआ था। रजवाड़ों के पारस्परिक संघर्षों और विदेशी लुटेरों तथा आक्रान्ताओं के कारण राजनीतिक दृष्टि से यह युग विशृंखलता और अव्यवस्था का युग था। राजवंशों की पारस्परिक कलह का लाभ विदेशी आक्रमणकारियों को मिला और पृथ्वीराज चौहान, मुहम्मद गोरी से पराजित हुए। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई और धीरे-धीरे उसका विस्तार होता गया। सामन्तवाद के इस युग में सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना का पूर्णतः ह्रास हो चुका था।

धार्मिक दृष्टि से भी नाना समुदायों का उदय हो चुका था। चमत्कार, प्रदर्शन आदि का बोलबाला था। यह युग वस्तुतः नैतिक और धार्मिक दृष्टि से पतन का युग था। सिद्धों और नाथ पंथियों ने बौद्ध धर्म की विकृत साधना पद्धतियों को ही प्रकारान्तर से अपनाकर जनता को गुह्य साधना और

पुरोहितवाद के भँवर-जाल में उलझा दिया था। सामाजिक दृष्टि से यह बिखराव का युग था। समाज रूढ़िग्रस्त हो गया था। सामन्ती वीरता और वंश की कुलीनता का बोलवाला था, किन्तु उदारता और दूरदृष्टि के अभाव में इनकी परिणति पारस्परिक संघर्षों में होती थी। स्त्री मात्र भोग-विलास की वस्तु रह गयी थी। इस प्रकार, तत्कालीन समाज ह्रासोन्मुख था। साहित्यिक क्षेत्र में चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन का जोर था। राजाओं के दरबार कवियों से सुशोभित होते थे, जो उनकी भावनाओं के उन्मेष और तृप्ति के लिए वीर और शृंगार रस की कविताएँ ही प्रचुरता से लिखते थे।

आदिकालीन हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ—आदिकालीन हिन्दी कविता पर अपभ्रंश साहित्य का पर्याप्त प्रभाव रहा है, तथापि इसकी अपनी स्वतन्त्र धारा प्रवाहमान हो चली थी। कवित्व का उत्कर्ष मुख्यतः इस काल की वीरगाथाओं में देखने को मिलता है, जो प्रायः अपने आश्रयदाओं के शौर्यगान हेतु चारण कवियों द्वारा रची गयी थीं। सामान्यतः इस युग की कविता में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) इस युग की अधिकांश काव्य-कृतियाँ इतिहास-प्रसिद्ध चरित नायकों के यशोगान के प्रयोजन से लिखे गये चारण-काव्य हैं। अपने चरित नायक को सर्वोपरि दिखाने की लालसा में कवियों ने प्रायः इतिहास की उपेक्षा कर कल्पना की अतिरंजना से रँगकर इन रचनाओं की ऐतिहासिकता को संदिग्ध बना दिया है। इनमें वर्णित घटनायें और तिथियों की ऐतिहासिक तथ्यों से संगति नहीं बैठती है।

(२) सजीव युद्ध-वर्णन इस युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्ति है। वस्तुतः यह काल तलवार की झंकार का काल था और कवि अपने आश्रयदाता के साथ युद्ध-दृश्यों का स्वयं साक्षात्कर्त्ता था। वह लेखनी के साथ-ही तलवार का भी धनी था। यही कारण है कि इस युग की कविता में युद्धों के जैसे बहुविध सजीव चित्र उभरे हैं वैसे बाद की हिन्दी की कविता में प्रायः दिखाई नहीं देते। डॉ० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में, "इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि इनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास गर्भित, किन्तु निर्जीव रचनायें नकल-सी जान पड़ती हैं।"

(३) इस युग में नारी युद्धों के मूल में दिखाई गयी है, जिसे पाने के लिए प्रायः युद्ध हो जाया करते थे। नारी का यह भोग्या रमणी रूप इस युग के काव्य में प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। साथ-ही उसे स्थान-स्थान पर वीर नारी के रूप में भी चित्रित किया गया है।

(४) इस युग की कविता में प्रकृति का विशद् चित्रण हुआ है। उद्दीपन रूप में तो प्रकृति का विस्तृत वर्णन है ही, अनेक स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन रूप में भी वर्णन किया गया है। नगर, नदी, पर्वत, वन, वाटिका आदि के प्रचुर वर्णन इस युग की कविता में हुए हैं।

(५) रस की दृष्टि से इस युग की कविता में वीर तथा शृंगार रस का प्राधान्य है। युद्ध और नारी इन दो प्रधान वर्ण्य विषयों के कारण यह स्वाभाविक ही था। वीर रस की दृष्टि से तो इस युग की कविता आज तक की सम्पूर्ण हिन्दी कविता में सर्वोपरि है।

(६) आदिकालीन कविता जन-सामान्य के जीवन से कटी हुई दरबारी कविता है, जो आश्रयदाता की स्तुति में लिखी गयी है। अतः उसमें सामान्य जन-जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण नहीं हुआ है। फिर भी विवाह आदि के प्रसंगों में तत्कालीन लोक-जीवन की झलक यत्र-तत्र मिल जाती है।

(७) रासो ग्रन्थों का प्रणयन इस युग की एक और प्रवृत्ति दिखायी देती है। पृथ्वीराज रासो, बीसल देव रासो, परमाल रासो, खुमान रासो आदि अनेक कृतियाँ रासो-परम्परा में ही लिखी गयी हैं।

(८) इस काल में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही रूपों में काव्य-रचना हुई है। 'बीसल देव रासो' मुक्तक काव्य का उदाहरण है, तो 'पृथ्वीराज रासो' प्रबन्ध काव्य का। अन्य काव्य-रूपों का इस युग में अभाव दिखायी देता है।

(९) आदिकालीन कविता में डिंगल तथा पिंगल का प्रयोग मिलता है। तत्कालीन साहित्यिक राजस्थानी आज डिंगल तथा अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक ब्रज भाषा पिंगल कहलाती है। इनके अतिरिक्त परम्परा से प्राप्त संस्कृत शब्दावली तथा तुर्कों के आगमन और इस्लाम के प्रसार के प्रभाव से अरबी-फारसी के शब्द भी इस युग की काव्य कृतियों में मिल जाते हैं।

(१०) छन्द की विविधता इस काल की कविता में प्रचुरता से दिखायी देती है। तोमर, तोटक, गाथा, रोला, छप्पय, सट्टक, कुण्डलिया, दोहा आदि छन्दों का कलात्मक प्रयोग इस युग के कवियों के छन्दाधिकार का परिचायक

है। वीर भावों के लिए छप्पय का जैसा सुन्दर प्रयोग वीरगाथाकालीन कवि ने किया है, वैसा अन्य युगों में सम्भव नहीं हुआ। भावोत्कर्षकारी छन्दों को इन कवियों ने विषयानुसार प्रयोग करके अपने काव्य-कौशल का प्रमाण दिया है।

इस काल के प्रमुख कवि और कृतियाँ हैं—स्वयंभू—'पउम चरिउ', धनपाल—'भविसयत्त कहा', लक्ष्मीधर कवि—'परमात्म प्रकाश', चन्दवरदायी—'पृथ्वीराज रासो', दलपति विजय—'खुमान रासो', नरपति नाल्ह—'बीसलदेव रासो', जगनिक—'परमाल रासो' (आल्हखण्ड), अमीर खुसरो की अनेक कृतियाँ, विद्यापति—'पदावली', 'कीर्तिलता' आदि।

हिन्दी का आदिकालीन काव्य साहित्यिक, ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाल तथा रीतिकाल में विकसित होने वाली अनेक काव्य-प्रवृत्तियों पर इस युग की कविता का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

भक्तिकाल (संवत १३७५-१७००)—

उत्तरी भारत में मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने पर देशी रियासतों का शौर्य-पराक्रम निस्तेज होने लगा और आदिकालीन वीरगाथाओं के स्वर शनैःशनैः मन्द पड़ते चले गये। हिन्दी काव्य की वीरत्वपूर्ण ओजमयी वाणी इहलोक के नैराश्यपूर्ण जीवन से विरत हो परमसत्ता की भक्ति के संगीत में शान्ति पाने लगी। इस प्रकार, काव्यधारा की दिशा मुड़ी और नवीन प्रवृत्तियों से पूर्ण एक नवीन काव्ययुग का शुभारम्भ हुआ। हिन्दी के सुधी समीक्षकों और इतिहासकारों ने इस पूर्व मध्ययुग को भक्ति की प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर 'भक्तिकाल' की संज्ञा से अभिहित किया। इस काल की अवधि संवत् १३७५ से संवत् १७०० तक स्वीकार की जाती है।

युगीन परिस्थितियाँ—राजनीतिक दृष्टि से भक्तिकाल का युग दिल्ली में तुगलक और लोदी वंश तथा मुगल शासन के पूर्वार्द्ध का युग है। इस युग में अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक के प्रयासों से मुसलमानी शासन बंगाल से गुजरात तक और दक्षिण में महाराष्ट्र तक फैल गया। किन्तु प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र होने लगे और पारस्परिक संघर्ष होने लगे। बाबर के आक्रमण के बाद मुगल शासन स्थापित हुआ। हुमायूँ को शेरशाह ने पराजित कर दिया। किन्तु

बाद में अकबर ने सभी छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर विशाल मुगल साम्राज्य की स्थापना की, जिसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने सुरक्षित रखा। इस प्रकार, अकबर तक देशी शासकों के प्रतिरोध के फलस्वरूप देश में निरन्तर मारकाट, गृहकलह और युद्ध का वातावरण व्याप्त रहा। ऐसे में जन-जीवन की उपेक्षा होना स्वाभाविक ही था।

सामाजिक दृष्टि से यह युग संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है। इस्लाम के अनुयायी और भारतीय हिन्दू समाज एक दूसरे से प्रभाव ग्रहण कर रहे थे। कुछ कट्टर एवं संकीर्ण वृत्ति के शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रसार कर रहे थे, पर कुछ-इसके विपरीत धर्मस्वातन्त्र्य और समन्वय पर बल देते थे। परस्पर विवाह सम्बन्ध भी (कहीं स्वेच्छया और कहीं जबरन) होने लगे थे। जाति-पाँति की कट्टरता बढ़ रही थी, किन्तु उसके विरुद्ध आवाज भी समय-समय पर उठ रही थी। हिन्दू प्रायः निर्धन थे और उनका रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न हो गया था।

धार्मिक दृष्टि से सिद्धों और नाथों की परम्परा भी इस युग में देखने को मिलती है, साथ ही दक्षिण से आयी भक्ति की लहर भी वेग से चारों ओर व्याप्त होती दिखायी देती है। इसके साथ ही इस्लाम के सूफी सन्त प्रेम को प्रधानता देकर भारतीय मतों के एकेश्वरवाद को अपनाकर समन्वय की ओर बढ़ते हुए भी दृष्टिगत होते हैं। इस प्रकार, धार्मिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदाय उभरे जिनमें समन्वय के प्रयास भी उदारमना मनीषियों द्वारा किये गये।

साहित्यिक दृष्टि से इस युग में भक्ति-प्रचार की भावना से काव्य का प्रणयन विशेष रूप से हुआ। इस काल में फारसी को प्रधानता मिली। शासकों द्वारा हिन्दी को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। हिन्दी के कवि भक्त और सन्त थे जिन्हें राज्याश्रय की अपेक्षा नहीं थी। इसीलिए हिन्दी का समग्र भक्ति-काव्य धर्मसत्ता प्रधान केन्द्रों और तीर्थों में पल्लवित हुआ।

भक्ति-परम्परा—भारत में भक्ति की परम्परा सुदीर्घ काल से चली आ रही है। महाभारत, गीता, पुराण साहित्य आदि में भक्ति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का व्यापक रूप देखने को मिलता है। किन्तु विवेच्य 'भक्ति-काल' में जो वेगवती भक्तिधारा प्रवाहित हुई, उसका उद्गम दक्षिण के आलवार भक्तों के भक्ति-आन्दोलन में है। रामानुजाचार्य ने विष्णु की उपासना

और दास्य भाव की भक्ति पर बल दिया। इसी परम्परा में रामानन्द ने उत्तर भारत में राम को अवतार मानकर रामभक्ति का व्यापक प्रचार किया, जिनके प्रभाव से कबीर और तुलसी जैसे भक्त कवि हिन्दी को प्राप्त हुए। उधर मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि ने कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इन्हीं की परम्परा में सूरदास ने कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत अमर-काव्य हिन्दी जगत् को प्रदान किया। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय के कवियों ने हिन्दू प्रेम-कहानियों के माध्यम से ईश्वर के प्रेम-स्वरूप का प्रतिपादन किया। जायसी इसी परम्परा के उत्कृष्ट कवि हैं।

भक्ति-काव्य—भारतीय धर्म-साधना में प्रतिपादित ईश्वर के निर्गुण और सगुण रूपों के आधार पर भक्तिकाल की हिन्दी-कविता में भी भक्ति की दो धाराएँ प्रवाहित हुईं। निर्गुण-भक्ति-धारा के कवियों के एक वर्ग ने ज्ञान पर बल दिया और दूसरे ने प्रेम पर। इसी प्रकार, सगुण-भक्त-काव्य की एक धारा कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर आगे बढ़ी और दूसरी राम को। इस प्रकार, भक्ति-कालीन-काव्य-सरिता जिन विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई उन्हें हम निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं—

भक्ति-काव्य
- निर्गुण भक्ति-धारा
  - ज्ञानाश्रयी शाखा
  - प्रेमाश्रयी शाखा
- सगुण भक्ति-धारा
  - कृष्णभक्ति शाखा
  - रामभक्ति शाखा

ज्ञानाश्रयी शाखा—नामदेव से प्रारम्भ ज्ञान-प्रधान निर्गुण-भक्ति काव्य की जिस धारा को कबीर ने हिन्दी में प्रतिष्ठित किया, उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' नाम से अभिहित किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त काव्य परम्परा' कहा है। इस धारा के कवि सन्त थे जिन्होंने अन्ततः ज्ञान को ही सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है। इसीलिए इसे 'सन्त काव्य' अथवा 'ज्ञान-मार्गी काव्य' कहा जाता है।

इस धारा के सर्वाधिक सशक्त और प्रतिनिधि कवि कबीरदास हैं, जिन्होंने युगीन परिस्थितियों के अनुरूप बौद्ध-साधना, नाथ-पन्थ, वैष्णव मत, अद्वैतवाद

और सूफी-साधना के प्रभावों को ग्रहण करते हुए भक्ति का बड़ा ही समन्वय-कारी रूप प्रस्तुत किया। बाह्याचार का विरोध करके इन्होंने अन्तःकरण की सहज साधना पर बल दिया, जातिगत भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठायी और सामाजिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों पर प्रहार कर शुद्ध सात्विक आचरण पर बल दिया। जन-वाणी में अपनी बात कहने वाले कबीर के सिद्धान्तों का सर्व-साधारण पर विशेष प्रभाव हुआ। कबीर के अतिरिक्त इस धारा के कवियों में गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास आदि के नाम उल्लेख-नीय हैं।

ज्ञानमार्गी निर्गुण भक्ति-धारा के सभी कवि निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखते हैं और सगुण रूप का विरोध करते हैं। वे बहुदेववाद और अवतारवाद के विरोधी हैं। उनके अनुसार सत्गुरु की कृपा के बिना राम की कृपा असम्भव है। अतः वे गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्ता प्रदान करते हैं। जाति-पाँति, रूढ़ियों-अन्धविश्वासों और बाह्य आडम्बरों का विरोध सभी सन्त कवियों ने किया है। अन्तःकरण में हरि-प्रेम और हरिस्मरण पर इन्होंने बल दिया है। माया से सावधान रहने की चेतावनी देते हुए इन कवियों ने नारी को विषया-सक्ति का मूल कारण मानते हुए उसकी निन्दा की है, तथापि सती और पति-व्रता के आदर्श की, उसके एकनिष्ठ अनन्य प्रेम की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनके काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति भी प्रमुखता से उभरी है। ज्ञानमार्गी सन्त काव्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें समाज-सुधार का स्वर पर्याप्त प्रखर है। यह काव्य युग के प्रति पूर्ण सचेत है।

सन्त कवि पढ़े-लिखे विद्वान् नहीं थे। अतः साहित्यिक भाषा को न अपना कर उन्होंने सामान्य बोलचाल की जन-भाषा में ही काव्य-रचना की है। मत-प्रचार के लिए भ्रमण के फलस्वरूप इनकी भाषा में अनेक आंचलिक एवं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का समावेश हो गया है। इसी मिली-जुली खिचड़ी भाषा को 'सधुक्कड़ी' भाषा का नाम अनेक विद्वानों ने दिया है। साधना-परक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी सन्त-काव्य में प्रचुरता से हुआ है। अलंका-रादि के प्रति इन कवियों में विशेष मोह नहीं था, अतः यह कविता सहज अलंकरण से ही सुशोभित है। सन्त कवियों की रचनाएँ प्रधानतः मुक्तक गेय पद शैली में लिखी गयी हैं। साखी (दोहा), चौपाई आदि का भी प्रयोग हुआ है। वस्तुतः सहज अभिव्यक्ति से सम्पन्न सन्त काव्य खरी अनुभूति का काव्य

है, जिसमें दर्शन, भक्ति और जीवनानुभूति के सौष्ठव का अद्‌भुत संगम हुआ है।

प्रेमाश्रयी शाखा—भक्तिकाल की निर्गुणोपासक प्रेमाश्रयी शाखा सूफी प्रेम-काव्य की धारा है। इसमें मानव-हृदय की कोमल, सुन्दर एवं सरस अभिव्यक्ति हुई है। निर्गुण सन्त कवियों के ज्ञान-प्राधान्य और खण्डनात्मक प्रवृत्तिजन्य रूक्षता के स्थान पर इस धारा के कवियों ने प्रेम की वाणी से हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का स्तुत्य प्रयास किया। इनके अनुसार निर्विकार और निर्विकल्प ईश्वर की प्राप्ति प्रेम की उत्कट साधना से ही सम्भव है। सूफियों की प्रेम-साधना में लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख होता है और इस निष्काम प्रेम की चरम परिणति प्रियतम (ईश्वर) में लीन हो जाने में होती है। इस धारा के सभी कवियों ने परमात्मा को पत्नी और आत्मा को पति मानते हुए नाना हिन्दू प्रेम-कथाओं के माध्यम से अपनी प्रेम-साधना को वाणी दी है।

प्रेमाश्रयी सूफी काव्य परम्परा का प्रथम उपलब्ध काव्यग्रन्थ मुल्ला-दाऊद कृत 'चन्दायन' है। इसके पश्चात् शेख कुतुबन कृत 'मृगावती', मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत', मंझन कृत 'मधुमालती', उसमान कृत 'चित्रा-वली' आदि इस धारा की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। जायसी कृत 'पद्मावत' सूफी प्रेम-काव्य-माला का सुमेरु है। उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव-सम्पन्न यह महा-काव्य प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा की सर्वाधिक प्रौढ़ रचना है।

प्रेममार्गी सूफी काव्य का मूल प्रतिपाद्य प्रेम है। इस धारा के कवियों ने प्रेम के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का विशद एवं मनोहारी वर्णन किया है, तथापि ये प्रेम के वियोग पक्ष पर अधिक बल देते हैं। वस्तुतः सूफी कवि प्रेम की पीर के गायक हैं। प्रेम के साथ ही इन कवियों ने सौन्दर्य का भी सुन्दर निरूपण किया है। इन्होंने प्रेम-साधना के वर्णन के लिए हिन्दू प्रेम-कथाओं के व्यापक पटल को आधार बनाया है, इसलिए इनके काव्य में लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति का विषद एवं मनोहारी चित्रण हुआ है। सूफी प्रेम-काव्य में नारी को परमात्मा का प्रतीक मानते हुए उसे नाना अलौकिक गुणों से सम्पन्न दर्शाया गया है। इन प्रेमाख्यानक काव्यों में शृंगार की ही प्रधानता है, तथापि प्रसंगवश अनेक स्थलों पर वीर, करुण, वीभत्स, शान्त आदि रसों की भी अभि-व्यक्ति हुई है।

सूफी प्रेम-काव्य प्रवन्ध रूप में ही लिखे गये हैं, जिन्है मसनवी शैली और भारतीय महाकाव्य की परम्परागत मान्यताओं का समन्वय करते हुए विन्यस्त किया गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में, "सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है, जिसमें किसी प्रबन्ध काव्य के प्राय: सभी तत्त्व वर्तमान हैं, किन्तु जिसमें इसके साथ ही, कथा-आख्यायिका; जैन चरित-काव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है।"

सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा लोक-प्रचलित अवधी है। इनकी रचनाओं में रहस्यात्मक संकेत और प्रतीकात्मकता का बाहुल्य है। दोहा-चौपाई शैली में प्रणीत इन प्रेमाख्यानों में यत्र-तत्र सोरठा, बरबै, फारसी बह्ररों आदि का भी प्रयोग हुआ है। परम्परागत अलकार-विधान अपनाते हुए इन कवियों ने उनका अत्यन्त स्वाभाविक एवं भावोत्कर्षकारी प्रयोग किया है। समासोक्ति का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है।

इस प्रकार, प्रेम के माध्यम से निर्गुण निराकार परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग बताने वाली सूफी काव्य धारा की भक्तिकालीन साहित्य में अपनी विशेष महत्ता है।

कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा—इस शाखा के आदि प्रवर्त्तक स्वामी वल्लभाचार्य माने जाते हैं। इस काव्य-धारा का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण को ईश्वर रूप में स्वीकार करके उनकी लीलाओं का भक्तिपूर्वक गान करना ही रहा है। स्वामी वल्लभाचार्य के पश्चात् उनके सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भी इसी धारा को आगे बढ़ाने में अपना सहयोग प्रदान किया। तत्पश्चात् सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी (सभी अष्ट छाप के कवि) आदि कवि इसी परम्परा में आते हैं। प्राय: इस शाखा के सभी कवियों ने कृष्ण के बाल एवं किशोर जीवन की क्रीड़ाओं को ही अपने साहित्य में स्थान दिया है, सम्भवत: इसी कारण इस काव्य में वात्सल्य, माधुर्य एवं शृंगार की अद्भुत झांकी के हमें दर्शन होते हैं।

कृष्ण भक्ति-काव्य का मूल उद्गम 'श्रीमद्भागवत' से माना जाता है। कृष्ण को भगवान के रूप में स्वीकार किया गया है। वे विष्णु के अवतार हैं। इस शाखा का मूल पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्त पर आधारित है। अत: उसमें माधुर्य भाव की भक्ति को महत्त्व दिया गया है। इसमें कृष्ण का लोकरंजक रूप ही

वर्णित हुआ है, लोकरक्षक रूप नहीं । यही कारण है कि गोपियाँ कुल-मर्यादा को तोड़कर कछार और कुंजों में रात-रात भर कृष्ण के साथ क्रीड़ाएँ किया करती हैं । कृष्ण-भक्ति शाखा में भक्ति के सखा भाव को ही अधिक महत्त्व मिला है ।

इस शाखा के कवि संगीत के पण्डित थे । अतः कृष्ण-काव्य में संगीत की अनुपम छटा विद्यमान हैं । सूर, मीरा, हरिदास, हितहरिवंश आदि के पदों का आज भी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है । गेय पद होने के साथ-ही-साथ इस शाखा का अधिकांश काव्य मुक्तक रूप में ही लिखा गया है । अपवादस्वरूप मात्र 'ब्रजविलास' नामक ग्रन्थ है, जो प्रबन्ध काव्य है । इस शाखा के कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपने ग्रन्थों का आधार बनाया है । कृष्ण लीलाओं के वर्णन में जिस सरस और मधुर रूप की झाँकी प्रस्तुत हुई है, उसके लिए ब्रजभाषा पूर्णतया खरी सिद्ध हुई है ।

रसों की दृष्टि से वात्सल्य एवं शृंगार को ही अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है । शृंगार में भी वियोग शृंगार के चित्रण में इन कवियों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । भ्रमरगीत-प्रसंग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । वात्सल्य-वर्णन में सूरदास अनूठे कवि हैं ।

अलंकारों के क्षेत्र में इन कवियों ने परम्परागत शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग किया है । प्रयुक्त अलंकार स्वाभाविक रूप में ही आये हैं । वे भावों को दबाने वाले नहीं हैं, अपितु उन्हें उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं । मुक्तक शैली के विविध छन्दों का प्रयोग इस काव्य में हुआ है । मुख्यतः पद, दोहा, रोला, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार, अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण हिन्दी की कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा साहित्यिक दृष्टि से बड़ी समृद्ध है ।

राम-भक्ति काव्य-धारा—सगुण ईश्वरोपासना के अन्तर्गत राम को अराध्य मानकर तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने जिस लोकमंगलकारी उत्कृष्ट काव्य की रचना की वही रामभक्ति-काव्य के नाम से जाना जाता है ।

राम के चरित्र को काव्य में प्रस्तुत करने वाला हिन्दी का प्रथम कवि **भूपति** को स्वीकार किया जाता है । भूपति के पश्चात् **सूदन, बेनी** और **मुनिलाल** के नाम भी राम-काव्य की परम्परा में उल्लेखनीय हैं । किन्तु सशक्त

राम-काव्य धारा को जन्म देने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को ही है। वे ही सच्चे अर्थों में इस काव्य-धारा के जनक और पोषक हैं। 'रामचरितमानस' में राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की प्रतिष्ठा और जीवन के महान आदर्शों का प्रतिपादन करके तुलसी युग-युग के अमर कवि के रूप में वन्दनीय हो गये। तुलसी के बाद राम-काव्य परम्परा में अग्रदास, नाभादास, हृदयराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

समस्त राम-भक्त कवियों ने अपने आराध्य राम के महिमामय चरित्र का भावपूर्ण गायन किया है। राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य से पूर्ण गायन को ही तुलसी जीवन का परम फल मानते हैं—

"देह धरे कर यह फलु भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।"

राम-भक्त कवियों ने राम के प्रति अपनी अविचल एवं अनन्य भक्ति भावना को व्यक्त किया है और जन्म-जन्मान्तर तक इस भक्ति की प्राप्ति की कामना प्रकट की है। 'चातक' इस भक्ति-भावना का आदर्श प्रतीक है।

'मर्यादा' राम-भक्ति-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। लोक-कल्याण का ध्यान रखते हुए इस धारा के कवियों ने मानव के मर्यादामय आदर्श की प्रतिष्ठा की है। राम स्वयं मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। रामभक्त कवियों ने समाज को (लोक को) अपनी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होने दिया है। तुलसी का सारा साहित्य लोक-मंगल की पावन भावना से ओतप्रोत है। भारतीय संस्कृति की प्रधान विशेषता समन्वय की भावना है। इसका पूर्ण उत्कर्ष हमें राम-काव्य, विशेषतः तुलसी-साहित्य में मिलता है। निर्गुण-सगुण का, भक्ति, ज्ञान और कर्म का, शैव और वैष्णव भक्ति का, शक्ति, शील और सौन्दर्य का, जीवन के विविध पक्षों का तथा विविध काव्य-शैलियों का समन्वय तुलसी-साहित्य में देखा जा सकता है। राम-काव्य में प्रकृति के भी नाना मनोरम चित्र देखने को मिलते हैं। आलम्बन, उद्दीपन, उपदेशिका आदि विविध रूपों में प्रकृति का चित्रण किया गया है। राम-काव्य में शृंगार, वीर, रौद्र, करुण आदि अन्य रसों का भी अच्छा उत्कर्ष हुआ है, तथापि वे राम-कथा में प्रसंगवश शान्त रस के विशाल वट-वृक्ष की छाया में ही पल्लवित हुए हैं। इस काव्य-धारा का प्रधान रस शान्त ही है।

राम-भक्ति काव्य का सृजन दृश्य-काव्य (नाटक) और श्रव्य-काव्य (अन्य काव्य रूप) दोनों ही रूपों में हुआ। श्रव्य-काव्य में प्रबन्ध (रामचरितमानस)

और मुक्तक (विनय-पत्रिका) दोनों ही प्रकार की काव्य शैलियों का प्रयोग हुआ है। इन कवियों ने दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, बरवै, छप्पय, कुण्डलिया, संस्कृत के वर्णवृत्त आदि विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग कर काव्य को समृद्ध किया है। प्राय: सभी प्रकार के शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का अत्यन्त स्वाभाविक और भाव-सौन्दर्य में वृद्धि करने वाला सफल प्रयोग इस धारा की रचनाओं में द्रष्टव्य है। इन कवियों की भाषा प्रधानत: अवधी (रामचरित-मानस) रही है, पर ब्रज को (विनय-पत्रिका) भी समान अभिरुचि और अधिकार से प्रयोग करके उन्होंने अपनी अद्‌भुत भाषा-सामर्थ्य का परिचय दिया है।

इस प्रकार, स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उद्‌भूत हिन्दी का राम-भक्ति-साहित्य परम उत्कृष्ट साहित्य है। तुलसी इस साहित्य-धारा की अनुपम विभूति हैं।

सामान्य प्रवृत्तियाँ—सम्पूर्ण भक्तिकालीन हिन्दी कविता की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) उपर्युक्त चारों शाखाओं के कवियों ने ईश्वर के नाम-स्मरण को अधिक महत्त्व दिया है। सभी कवियों ने अपने-अपने इष्टदेव के नाम का स्मरण किया है।

(२) प्राय: सभी भक्तिकालीन कवियों ने अपने-अपने गुरुओं की महिमा का बखान किया है। कबीरदास ने तो गुरु को ईश्वर से भी उच्च माना है।

(३) भक्तिकालीन सभी कवियों के काव्यों में भक्ति की सर्वोपरि महत्ता दर्शायी गयी है। सूर एवं तुलसी ईश्वर के चरणों के अतिरिक्त अन्यत्र अपनी गति ही नहीं देखते हैं।

(४) सभी भक्त कवियों ने बाह्य आडम्बर का डटकर विरोध किया है। ज्ञानमार्ग में मूर्ति-पूजा, छापा, तिलक, तीर्थयात्रा आदि का विरोध किया गया है। सगुणमार्गी कवियों ने भी सात्विक जीवन पर ही अधिक जोर दिया है।

(५) इस काल के काव्य में धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, आदि सभी क्षेत्रों में हमें समन्वय की भावना के दर्शन होते हैं। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस युग के कवियों ने ऊँच-नीच, छोटाई-बड़ाई, कुरीतियों तथा सामाजिक बुराइयों की खुलकर निन्दा की है।

(६) इस काल में ज्ञानमार्गी एवं कृष्णभक्त कवियों ने मुक्तक काव्यों की रचना की है। इसके विपरीत प्रेममार्गी तथा रामभक्त कवियों ने प्रबन्ध काव्यों की रचना की है। यथा—जायसी का पद्मावत, तुलसीकृत रामचरित-मानस आदि।

(७) भाषा की विविधता इस काल के कवियों की अपनी विशेषता है। सन्त कवियों ने सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है, प्रेममार्गी कवियों ने ग्रामीण अवधी का। रामभक्त तुलसी आदि कवियों ने अवधी का साहित्यिक और परिमार्जित रूप अपनाया है। कृष्णभक्त सूर ने ब्रजभाषा के ग्रामीण रूप को अपनाया है, तो इसी शाखा के नन्ददास, रसखान आदि ने ब्रजभाषा के शुद्ध साहित्यिक रूप को अपनाया है।

(८) इस काल के कवियों ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। मुक्तक, गेय पद, दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग मुख्यतः हुआ है।

(९) इस काल का प्रधान रस शान्त है। शृंगार एवं वीर रस उसके सहयोगी बनकर आये हैं। प्रबन्ध काव्यों में हमें शृंगार, वीर, हास्य आदि प्रायः सभी रसों का प्रयोग मिल जाता है।

स्वर्ण युग—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से इस काल का साहित्य श्रेष्ठ है। भारतीय जन-मानस को इस काल के साहित्य ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। इस युग में जो साहित्य रचा गया, वह अनुपम एवं महान् है। निश्चय ही, यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्णिम काल था। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरण से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही, वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है।"

रीतिकाल (संवत् १७००-१९००)—

हिन्दी काव्य का उत्तर मध्यकाल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'रीतिकाल' की संज्ञा से अभिहित किया गया है, क्योंकि इस युग में काव्य-रीति की केन्द्रीय धुरी के आस-पास ही सम्पूर्ण काव्य-सृजन का चक्र घूमता रहा है। संस्कृत-

आचार्यों ने 'विशिष्ट पद-रचना' को रीति कहा है। हिन्दी में अलंकार, रस, छन्द, नायिका-भेद आदि का विवेचन करने वाली एक विशेष प्रकार की काव्य-रचना रीतिकाव्य कही गयी है। इस काल के अनेक कवियों ने संस्कृत के अनुकरण पर रीतिकाव्य परक लक्षण ग्रन्थों की रचना की। इसीलिए इस काल को रीतिकाल नाम दिया गया है। शृंगार वर्णन की प्रमुखता के आधार पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'शृंगार काल' कहा है। इस काल की अवधि संवत् १७०० वि० से सवत् १९०० वि० तक स्वीकार की जाती है।

युगीन परिस्थितियाँ—राजनीतिक दृष्टि से अकबर के पश्चात् के इस काल में जहाँगीर और शाहजहाँ के युग प्रबल राजतन्त्र के युग रहे, जिनमें विलासिता, कला-विकास और प्रदर्शन-प्रियता को बढ़ावा मिला। औरंगजेब और उसके बाद मुगल साम्राज्य के पतन का युग आरम्भ हुआ, जिसमें विलासिता और नैतिक अधोगति अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। मुगलों और देशी नरेशों के अन्तःपुर तथा दरबार वेश्याओं की रुनझुन और सुराधारा में डूबे रहते थे। ऐसे युग में ही हिन्दी का शृंगार-प्रधान चमत्कारपूर्ण रीतिकालीन काव्य रचा गया।

सामाजिक दृष्टि से भी यह काल विलासिता और भोग का ही युग था। मुगल शासकों, सामन्तों, देशी नरेशों की अतिशय भोग लिप्सा और महलों में लगने वाले रूप-बाजारों का प्रभाव सामान्य जन-जीवन पर भी पड़ा। नारी केवल भोग और मनोरंजन की वस्तु रह गयी। अमर्यादित यौन सम्बन्ध, द्यूत, मद्यपान, अन्धविश्वास, विलास-उपकरणों का संग्रह आदि का तत्कालीन समाज में बोलबाला था।

ऐसे विलासिता के युग में धर्म, संस्कृति और काव्य एवं अन्य कलाएँ भी वैभव-विलास की ओर उन्मुख हो उठीं। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में रसिकता और विलासिता बढ़ चली। भक्ति की मंदाकिनी की गति मन्द पड़ गयी। उदारता परक सांस्कृतिक मूल्य छीजने लगे। राज्याश्रय में पलने वाला हिन्दी कवि वात्स्यायन के कामसूत्र से प्रेरणा ग्रहण करके फारसी कवियों से होड़ करने के लिए राधा और कृष्ण को फारसी प्रेम-कथाओं की कामुक नायिकाओं और नायकों वाला रूप देने लगा। इस प्रकार इस युग की कविता का कथ्य शृंगार, शिल्प-प्रदर्शन और चमत्कार की चकाचौंध में खो गया। डॉ० सावित्री सिन्हा के शब्दों में, "स्वार्थपरायण राजनीतिक व्यवस्था, सामन्तीय

वातावरण, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलास मूलक वैभवजन्य प्रदर्शन-प्रधान अलंकरण प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विविध ललित कलाओं की गतिविधि पर बड़ा प्रभाव रहा है।"

रीति-काव्य परम्परा—विविध काव्यांगों का विवेचन करने वाले रीति-काव्य के प्रणयन का आरम्भ हिन्दी में संवत् १५९८ में कृपाराम द्वारा लिखित रस सम्बन्धी एक पुस्तक से ही हो गया था। बाद में करनेस कवि ने अलंकार सम्बन्धी तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। रीतिकाल में आचार्य कवि केशवदास ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' में क्रमशः अलंकारों और रसों का विवेचन किया। किन्तु आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी द्वारा रीति सम्बन्धी ग्रन्थों की सम्यक् परम्परा का विधिवत् शुभारम्भ स्वीकार किया जाता है। हिन्दी में रीति-ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत के रीति-ग्रन्थों के अनुकरण पर हुआ, किन्तु हिन्दी के रीतिग्रन्थकार मूलतः कवि थे, अतः ये आचार्य के धर्म का पूर्ण निर्वाह भली प्रकार नहीं कर सके।

विभिन्न काव्य धाराएँ—रीतिकाल में कवियों के तीन वर्ग सामने आये। जिन कवियों ने शास्त्रीय सीमाओं में बँधे लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन में अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित की उन्हें **'रीतिबद्ध'** कवि कहा जाता है। इस रीतिबद्ध काव्यधारा में केशव मतिराम, देव, भूषण, पद्माकर आदि कवि आते हैं। दूसरे वे कवि हैं जिन्होंने रीति-ग्रन्थों का निर्माण तो नहीं किया, किन्तु रीति परिपाटी के अनुसार ही नायिका-भेद आदि को ध्यान में रखते हुए काव्य-रचना की। इस **रीतिसिद्ध** काव्यधारा के प्रधान कवि बिहारीलाल हैं। तीसरी काव्य धारा उन कवियों ने प्रवाहित की जो रीति-सम्बन्धी मान्यताओं से अलग रहकर प्रेम के विविध रूपों के उदघाटन में स्वच्छन्द रूप से डूबे रहे। इस **रीतिमुक्त** काव्य-धारा में रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर आदि कवि आते हैं। शृंगार के इस युग में भूषण, सूदनलाल आदि ने वीर रस प्रधान कविताएँ लिखीं। भूषण इस युग के वीर रस के सिद्ध कवि हैं।

सामान्य प्रवृत्तियाँ—

(१) रीतिकालीन काव्य की **प्रमुख** प्रवृत्ति है रीतिपरक काव्य-रचना। इस युग में स्वच्छन्द काव्य धारा के (घनानन्द बोधा आदि) कवियों को छोड़-कर सभी कवियों में काव्य-रीति के प्रति विशेष मोह रहा है। लक्षण-ग्रन्थ, नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन आदि इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

(२) शृंगार इस युग के काव्य का प्रधान वर्ण्य-विषय रहा। इन कवियों ने संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का चित्रण किया है। रीति से जुड़े कवियों ने संयोग-चित्रण में विशेष रुचि दिखायी है, तो रीतिमुक्त कवियों ने विरह-व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। अपवादस्वरूप भूषण वीररस के सशक्त कवि हैं।

(३) इस युग के कवियों का सौन्दर्य-वर्णन स्थूल और दैहिक ही अधिक है। कामोद्दीप्त कटाक्ष-कुशल नयन, रक्ताभ कपोल, उन्नत उरोज, तरंगायित त्रिवली, पुष्ट जघन और द्युतिमान नख-छवि के वर्णन रीतिकालीन काव्य में भरे पड़े हैं।

(४) भक्ति एवं नीति परक रचनाएँ भी इस युग के प्रायः सभी कवियों ने लिखी हैं। पूर्ववर्ती भक्ति युग की परम्परा का यह आंशिक निर्वाह भी इस युग की रसिकता के साथ जुड़ा रहा है।

(५) प्रकृति का रीतिकाल में प्रायः उद्दीपन रूप में ही चित्रण हुआ। राजदरबारों की चकाचौंध में बसे-रमे कवियों को प्रकृति के रम्य रूप पर रीझने का अवकाश ही कहाँ था ? हाँ, सेनापति जैसे कवियों में यत्र-तत्र प्रकृति का आलम्बन रूप में सहज-सुन्दर चित्रण अवश्य मिल जाता है।

(६) इस युग की कविता में नारी के उदात्त रूप का सर्वथा अभाव है। वह मात्र काम-केलि हेतु स्वीकार की गयी है। यहाँ तक कि राधा भी नायिका के रूप में कृष्ण (नायक) की भोग्या भर रह गयी हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं है बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है।"

(७) इस युग के कवि राज्याश्रित थे। अतः अपने आश्रयदाताओं के मनोरंजन और विलास-वृत्ति की तुष्टि हेतु काव्य-रचना करना उनकी विवशता थी। अनेक कवियों ने विभिन्न शासकों का गुणगान करते हुए भी अनेक काव्य ग्रंथ लिखे हैं।

(८) आलंकारिकता, चमत्कारप्रियता ओर प्रदर्शन की प्रवृत्ति रीतिकालीन काव्य में सर्वत्र पायी जाती है। केशवदास ने तो अलंकार रहित होने में कविता की शोभा ही नकार दी है। उक्ति-चमत्कार और काव्य एवं अन्यान्य शास्त्रों

के ज्ञान का प्रदर्शन करके श्रोता को आकृष्ट कर लेना ही इस युग के कवि का लक्ष्य तथा सफलता का मापदण्ड बन गया था ।

(९) रीतिकाल में मुक्तक काव्य के प्रणयन में ही कविगण प्रवृत्त रहे, क्योंकि वही दरबारी वातावरण के उपयुक्त था । इन रचनाओं में कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों का हो अधिक प्रयोग हुआ है ।

(१०) सुललित ब्रजभाषा का सुष्ठु प्रयोग रीतिकालीन हिन्दी कविता की विशेष उपलब्धि है । चित्रात्मक भाषा में एक विशेष कोमलता और माधुर्य है । डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "नागरता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं । ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है ।"

(११) रीतिकालीन कवियों का ध्यान कविता-कामिनी की साज-सज्जा पर अधिक रहा, उसके सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य पर कम । फलतः इस युग की कविता का भाव-पक्ष अपेक्षाकृत उपेक्षित हो गया है । काव्य का कला पक्ष, निश्चय ही, इस युग की कविता में उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है ।

आधुनिक काल (संवत् १९०० से अब तक)

मुगल शासन को अंग्रेजों ने शनैः-शनैः निर्बल करके समाप्त कर दिया । भारत का सम्पर्क पाश्चात्य जगत् से, वहाँ की संस्कृति, सभ्यता और साहित्य से हुआ । वहाँ के विज्ञान-सम्मत आधुनिक दृष्टिकोण के प्रभाव से भारत में भी आधुनिकता की लहर आरम्भ हुई । फलस्वरूप हिन्दी काव्य भी रीतिकाल के श्रृंगारी परिधान को त्यागकर आधुनिकता की खुली धूप में अपना रूप नये ढंग से सँवारने लगा ।

संवत् १९०० विक्रमी से आज तक के सम्पूर्ण काल को हम 'आधुनिक काल' के नाम से पुकारते हैं । इस युग में साहित्य-रचना के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति हुई । हिन्दी काव्य राज-दरबारों से निकलकर जनता के बीच आया । खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई । सामान्य जीवन की विविध समस्याओं का चित्रण उसमें होने लगा । कविता के साथ ही गद्य के क्षेत्र में बहुमुखी विकास पाकर आधुनिक हिन्दी साहित्य वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से समृद्धि के नये सोपानों पर बढ़ चला । युग और परिस्थितियों के अनुरूप उसके भाव और कला पक्षों में पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं, उसमें विविध प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं और एक युग विशेष में वे अति प्रधान रही हैं । इन प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास

को ध्यान में रखते हुए आधुनिक हिन्दी कविता को विविध युगों में बाँटा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं—

भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक हैं। इस युग में उन्हीं से प्रभावित हो अन्य कवियों ने भी काव्य-रचना की है, अतः इसे 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा दी जाती है। यह आधुनिक हिन्दी कविता का आरम्भिक युग है, अतः इसमें अपने पूर्ववर्ती रीतिकाल का कुछ प्रभाव शेष रह जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि इस युग में कविता में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। राष्ट्रीय भावना और देश शक्ति, समाज-सुधार, उदार मानवतावादी दृष्टिकोण, नवयुग की चेतना, नाना लोक-छन्दों का प्रयोग, ब्रज के अतिरिक्त खड़ीबोली का प्रयोग आदि भारतेन्दुयुगीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, राधाकृष्ण दास आदि इस युग के प्रमुख कवि हैं।

द्विवेदी-युग—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया। उनके विचारों के अनुसार ही काव्य-धारा का रूप बदलने के कारण इसे हम 'द्विवेदी-युग' कहते हैं। इस युग में हमें बुद्धिवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। देश-प्रेम, राष्ट्रीय-चेतना, समाज-सुधार, लोक-मंगल की भावना, नारी के प्रति सहानुभूति और समता की भावना, खड़ीबोली की प्रतिष्ठा आदि इस युग की कविता की विशेषताएँ हैं। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के प्रमुख कवि हैं।

छायावाद-युग—द्विवेदी युग की कविता के विरुद्ध नवीन प्रतिभाशाली युवा कवियों ने प्रेम-सौन्दर्य की भावनाओं से परिपूर्ण एक नयी भाव और कल्पनामयी कविता को जन्म दिया। यही आगे चलकर छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं—प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यंजना, प्रकृति का सजीव चित्रण और उसका मानवीकरण, रहस्य-भावना, मानवतावादी दृष्टिकोण, नारी का महिमामय रूप, वेदना की गहराई, देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना, प्रतीकात्मकता, नव-नव छन्दों और अलंकारों का प्रयोग आदि। जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा आदि इस युग के प्रमुख कवि हैं।

प्रगतिवाद-युग—छायावादी कविता जन-जीवन से दूर चली गयी तो उसे धरती पर उतारने का प्रयास हुआ। फलस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ। धरती के मनुष्यों की, उनकी समस्याओं और सुख-दुःख की ओर कवियों ने दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने देखा कि असंख्य श्रमजीवी लोग नारकीय जीवन बिता रहे हैं, जबकि कुछ वैभव सम्पन्न व्यक्तियों के कुत्ते भी इनसे ज्यादा सुखी हैं। इसी कुटिया और महल के अन्तर को मिटाने का क्रांतिकारी स्वर हिन्दी की इस कविता में सुनाई पड़ा। प्रगतिवादी कविता में हमें भाषा-शैली की दृष्टि से फिर द्विवेदी-युग की ही झलक मिलने लगती है। दिनकर, निराला, हरिकृष्ण प्रेमी, रामविलास शर्मा आदि इस काव्य-धारा के उल्लेखनीय कवि हैं।

प्रयोगवाद और नयी कविता का युग—सन् १९४३ में प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ हिन्दी में प्रयोगवाद का आरम्भ हुआ। यही धारा विकसित होकर १९५३-५४ तक 'नयी कविता' के रूप में स्थापित हो गयी। आज इसी का युग चल रहा है। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—अति वैयक्तिकता, यथार्थवाद, बौद्धिकता का आग्रह, विद्रोह का स्वर, यौन भावनाओं का मुक्त चित्रण, सामाजिक विषमता के प्रति व्यंग, विचित्रता का दर्शन, प्रकृति का बहुविध चित्रण, कल्पनाओं, भावों और भाषा में अनगढ़ता और भदेसपन, प्रतीकात्मकता, नवीन उपमान-विधान, भाषा और शैली के नव-नव प्रयोग, मुक्त छन्द, ध्वन्यात्मक अर्थ की लय पर बल आदि। अज्ञेय, मुक्तिबोध, नलिन विलोचन शर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नरेश मेहता, रामविलास शर्मा, जगदीश गुप्त, भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, प्रभाकर माचवे, कुँवर नारायण, बालकृष्ण राव, विजयदेव नारायण साही आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

वर्तमान में **नवगीत धारा** भी इस नयी कविता के साथ ही चल रही है। इसमें प्रेम और सौन्दर्य, अध्यात्म जीवन के विविध क्षेत्रों का यथार्थ चित्रण, गीतों के माध्यम से हुआ है। शम्भूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, नरेश मेहता, धर्मवीर, सोम ठाकुर, नीरज आदि इस धारा को समृद्ध कर रहे हैं।

इस प्रकार, आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवाहिनी धारा नाना सोपानों को पार करती हुई सतत् गतिशील है। उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

सामान्य विशेषताएँ—आधुनिक काल की समग्र हिन्दी-कविता की सामान्य विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

(१) **विविध काव्यधाराएँ**—आधुनिक युग की कविता में अनेक काव्य-धाराओं का जन्म और विकास हुआ है, जैसे—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवाद और इसी का विकसित रूप नयी कविता जो वर्तमान में चल रही है।

(२) **खड़ीबोली काव्य**—रीतिकाल में ब्रजभाषा ही साहित्य-भाषा थी। आधुनिक युग में खड़ीबोली ने उसका स्थान लिया। कविता में तेजी से उसका प्रभुत्व बढ़ा और हिन्दी कविता का अर्थ ही खड़ी बोली हिन्दी कविता हो गया है।

(३) **राष्ट्रीय चेतना**—भारतेन्दु-काल से ही राष्ट्रीय चेतना के स्वर उभरने लगे थे। भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के साथ साहित्य में राष्ट्रीय भावना अपने पूरे वेग से व्यक्त हुई। मैथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', माखनलाल चतुर्वेदी, निराला आदि ने राष्ट्रीय चेतना की कविताएँ लिखी हैं।

(४) **सामान्य जीवन का चित्रण**—आधुनिक-हिन्दी-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह जन-जीवन का साहित्य बन गया है। रीतिकाल में हिन्दी कविता दरबारों में कैद थी, आधुनिककाल में जनता के निकट आयी। कविता में सामान्य मनुष्य की समस्याओं का चित्रण हुआ।

(५) **बौद्धिक चेतना**—आधुनिक युग का मनुष्य बौद्धिक चेतना से परिपूर्ण है। हमारे साहित्य में भी यह बौद्धिक चेतना भारतेन्दु-काल से ही प्रविष्ट होकर विकसित होती गयी है। आज कविता बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित है।

(६) **नारी के प्रति सम्मान-भाव**—रीतिकाल में नारी नख-शिख सौन्दर्य का प्रदर्शन करने वाली रह गयी थी। आधुनिक युग में वह हमारी सहानुभूति और सम्मान की भागी बनी।

(७) **मोहक प्रकृति-चित्रण**—आधुनिक कविता में प्रकृति का जैसा मोहक और बहुविध चित्रण हुआ है, हिन्दी में इससे पूर्व देखने में नहीं आता। छायावाद में विशेष रूप में प्रकृति और मानव में अति निकटता स्थापित हुई।

(८) **नाना रूपों में प्रेम-सौन्दर्य-चित्रण**—आधुनिककालीन हिन्दी कविता में हम प्रेम-सौन्दर्य-चित्रण के बदलते हुए नाना रूप देखते हैं। भारतेन्दु-युग में इस क्षेत्र में रीतिकाल का प्रभाव बना रहा है। द्विवेदी-युग में हमें प्रेम का आदर्श और लोकमंगलकारी रूप देखने को मिलता है। छायावाद प्रेम और सौन्दर्य की ही स्वच्छन्द कविता है। बाद में पाश्चात्य प्रभाव से प्रेम और सौन्दर्य के प्रति हमारे साहित्यकारों का दृष्टिकोण भोगवादी हो गया है।

(९) **शैली की विविधता**—आधुनिक हिन्दी-कविता ने विविध क्षेत्रों में जो प्रगति की है, उसमें शैली की विविधता आना भी स्वाभाविक ही था। कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु से लेकर नयी कविता तक अनेक काव्य शैलियाँ प्रवर्तित होती रही हैं।

(१०) **पाश्चात्य प्रभाव**—आधुनिक हिन्दी-कविता पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पड़ा है। हमारी जीवन दृष्टि, वर्ण्य-विषय, वर्णन-शैली सब कुछ उससे प्रभावित है। कार्लमार्क्स, फ्रायड, इलियट, सार्त्र आदि का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार, अपनी नाना विशेषताओं से युक्त हिन्दी की आधुनिक कविता द्रुत गति से समृद्धि और उच्चता के शिखर पर चढ़ी है।

कवि-परिचय

१. कबीरदास

महापुरुष युग की माँग होते हैं। इसीलिए जन-जन उनके सम्मुख नमित हो चुप-चाप उनके पीछे चल पड़ता है। कबीर भी ऐसे ही युग-पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व विराट् था। वे अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि थे। लोक-जीवन के दोषों को देखकर अत्यन्त दुखी और जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत एक महान् समाज-सुधारक थे। वे निर्भीक धर्म-पुरुष थे। वाणी से कठोर लगते हुए भी अन्तःकरण में अनन्त करुणा समेटे; वे एक ऐसे सहृदय मानव थे कि उनका शब्द-शब्द कविता बन गया।

जीवन-वृत्त—कबीर का जन्म काशी के निकट हुआ था। कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

> **"चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार इक ठाट भये।**
> **जेठ सुदी बरसाइत को, पूरनमासी प्रकट भये।"**

इस दोहे के आधार पर कुछ विद्वानों द्वारा उनका जन्म वर्ष संवत् १४५५ और कुछ के द्वारा १४५६ स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध सन्त स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद से एक विधवा ब्राह्मणी को पुत्र की प्राप्ति हुई। उसने लोक-लाज के भय से शिशु को लहरतारा नामक तालाब के किनारे छोड़ दिया। निःसन्तान जुलाहा-दम्पत्ति नीरू और नीमा को वह बालक मिल

गया। उसका नाम कबीर रखा गया। डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है कि कबीर का जन्म मगहर के पास एक साधु परिवार में हुआ था। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि कबीर जुलाहा-परिवार से सम्बन्धित रहे थे। उन्होंने स्वयं भी जुलाहे का व्यवसाय अपनाया था।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने तो जीवन की अनन्त पाठशाला में आत्मज्ञान और ईश्वर-प्रेम का पाठ पढ़ा था। इस बात को कबीर स्वयं ही कहते हैं—**"मसि कागद छुओ नहीं कलम गही नहीं हाथ।"**

कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द थे। 'राम' का नाम उनका गुरुमन्त्र था। सन्त कबीर ने गृहस्थ-जीवन भी व्यतीत किया था। उनकी पत्नी का नाम लोई था, पुत्र का नाम कमाल और पुत्री का नाम कमाली था।

कहा जाता है कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। पाखण्ड और अन्धविश्वास के विरोधी कबीर ने अनुभव किया—**"जो कासी तन तजै कबीरा, रामहिं कौन निहोरा।"** अतः वे जीवन के अन्तिम दिनों में मगहर चले गये। कहते हैं कि १२० वर्ष की आयु में संवत् १५७५ वि० में यह विभूति उस परम ज्योति में लय हो गयी—

"संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को कौन।
माघ सुदी एकादशी, रल्यौ पौन में पौन॥"

रचनाएँ—यद्यपि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी उनमें अद्भुत प्रतिभा थी। जब वे तन्मय होकर गा उठते थे, तो उनके मुँह से सहसा कविता फूट निकलती थी। कबीर के एक प्रमुख शिष्य धर्मदास ने कबीर की रचनाओं का संग्रह 'बीजक' नाम से किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इनकी समस्त रचनाओं को संग्रहीत करके 'कबीर ग्रन्थावली' नाम से सम्पादित किया है।

कबीर की समस्त रचनाओं के तीन रूप मिलते हैं—

(१) **साखी**—दोहा छन्द में प्रकट किये गये कबीर के साक्षात् अनुभव 'साखी' नाम से विख्यात हैं। कबीर कहते हैं—'साखी आँखी ज्ञान की....।' इन साखियों में कबीर की भक्ति-भावना, आत्म-ज्ञान, समाज-कल्याण की भावना, सदाचार सम्बन्धी विचार आदि व्यक्त हुए हैं।

(२) **सबद**—'सबद' की रचना पदों के रूप में की गयी है। ये पद गेय हैं। इनमें विषय गम्भीर है और साथ ही संगीतात्मकता है। इनमें भी कबीर की भक्ति, समाज-सुधार और रहस्यवादी भावनाओं का वर्णन है।

(३) **रमैनी**—'रमैनी' चौपाई छन्द में हैं। इनमें कबीर की रहस्य-भावना और गूढ़ दार्शनिक विचार प्रकट हुए हैं।

कवित्व—कबीर बिना पढ़े, निर्भीक और फक्कड़ सन्त थे, जो अपने अनुभव से समाज के हर व्यक्ति को कल्याण का मार्ग दिखाना चाहते थे। अतः उन्होंने कविता के बनाव-श्रृंगार पर ध्यान न देकर, खरी अनुभूति को ही उसमें प्रधानता दी।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। निर्गुण भक्ति-धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वोत्कृष्ट कवि के रूप में वे हमारे सामने आते हैं। उनका आराध्य अरूप, अनाम, अनुपम सूक्ष्म तत्त्व है। इसे वे 'राम' नाम से पुकारते हैं।

ज्ञानमार्गी कबीर के काव्य में स्थान-स्थान पर प्रेम की उत्कट भावना के दर्शन होते हैं—

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारै भुईं धरै, सो पैठै घर माहिं॥"

रहस्यवाद—कबीर हिन्दी के प्रथम उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि हैं। निर्गुण ब्रह्म के उपासक इस कवि पर शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का प्रभाव था। इसीलिए कबीर जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उन्होंने अपनी कविता में जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद सम्बन्ध दिखाने का सफल प्रयास किया है। कबीर ने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति मानकर परमात्मा के प्रति आत्मा के उत्कट प्रेम की व्यंजना की है। वे कहते हैं—'राम मेरे पिउ, मैं राम की बहुरिया।'

कभी वे अपने राम से ब्याह रचाने लगते हैं। उनकी आत्मा 'जीवन मदमाती' होकर 'एक पुरिष अविनाशी' के साथ ब्याह कर चल देती है। वे गा उठते हैं—

"दुलहिनी गावहु-मंगलाचार।
म्हारे घर आये हो राजा राम भरतार।"

कभी उनकी आत्मा अपने प्रियतम राम के विरह में तड़पने लगती है। उसका नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ जाते हैं, पन्थ निहारते-निहारते आँखों में झाईं पड़ जाती है। कभी वह विरहणी स्वयं को मिटाकर अपने प्रिय (परमात्मा) को पाती लिखने लगती है—

"यह तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की लिखि-लिखि राम पठाउँ॥"

इस प्रकार मिलन-वियोग की नाना भाव तरंगों में खोयी हुई कबीर की आत्मा जब परमात्मा में लीन हो जाती है, तो सर्वत्र वही परमात्मा अभेद रूप से रह जाता है—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्यो माहिं॥"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर के काव्य में रहस्यवाद की तीनों अवस्थाएँ—(१) आत्मा की परमात्मा के प्रति जिज्ञासा और अनुरक्ति, (२) ज्ञान के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार; और (१) जीवात्मा का परमात्मा में मिलकर एक रूप हो जाना—दिखायी देती हैं।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—"रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद उन्हीं का है।'

कबीर के रहस्यवाद में कहीं-कहीं हठयोग की साधना की कठोरता भी आ गयी है। इसीलिए विद्वान् उनके रहस्यवाद को बहुधा 'साधनात्मक रहस्यवाद' की संज्ञा देते हैं।

सामाजिक जीवन में व्याप्त जाति-भेद, साम्प्रदायिकता, अन्ध-विश्वास, पाखण्ड और आडम्बर, मूर्ति-पूजा आदि को मिटाने के लिए कबीर की वाणी बड़ी कर्कश हो उठी थी। इन बुराइयों को बनाये रखने वाले पंडितों और मौलवियों को उन्होंने अपनी रचनाओं में खूब आड़े हाथों लिया है। आज हम जिस हरिजनोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि को अपने समाज में साकार देखना चाहते हैं, उसका प्रयास मध्य-युग में महात्मा कबीर ने किया था। वस्तुतः वे एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक थे।

कबीर ने बुराइयों और दोषपूर्ण मतों का केवल खण्डन ही नहीं किया, वरन् एक आदर्श जीवन के लिए नीतिपूर्ण उपदेश भी दिये। सत्य को सबसे बड़ा तप और पशुवध को घृणित कर्म मानते हुए उन्होंने सत्य और अहिंसा को जीवन का आधारभूत तत्त्व माना। यही कारण है कि **डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल** ने गाँधी को कबीर का ही दूसरा रूप स्वीकार किया है। अतिथि-सत्कार, सन्तोष, दया, करुणा, कथनी-करनी में समन्वय और सदाचारपूर्ण जीवन के नाना उपदेश कबीर की वाणी में विद्यमान हैं।

कबीर ने अपनी कविता और जीवन दोनों में विविध धर्म-रूपों का

अद्‌भुत समन्वय उपस्थित किया है। कबीर में हमें इस्लाम के एकेश्वरवाद, भारतीय अद्वैतवाद, योग-साधना, बौद्धमत, वैष्णवों की शरणागति भावना और अहिंसा, सूफियों की प्रेम-साधना आदि सभी का समन्वित रूप देखने को मिलता है।

कबीर का काव्य अनुभूति का काव्य है, अतः रस की दृष्टि से भी वह उत्कृष्ट है। कबीर काव्य में हमें शान्त-रस का ही प्राधान्य मिलता है, पर विरहिणी आत्मा के चित्रण में विप्रलम्भ और आत्मा-परमात्मा-मिलन की स्थिति में संयोग श्रृंगार भी इसी शान्त रस के सहयोगी बनकर आये हैं। उनकी कविता में हमें शास्त्रों में वर्णित नव-रसों के अतिरिक्त अध्यात्म रस की भी अनुभूति होती है।

कबीर की भाषा का रूप परिष्कृत नहीं है। बोलचाल की अनगढ़ भाषा, विविध आंचलिक शब्दों के प्रयोग, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, फारसी आदि के शब्दों के प्रयोग, शब्दों के विकृत रूप आदि सबने मिलकर कबीर की भाषा को सबसे अलग एक विचित्र रूप प्रदान कर दिया है। इसी कारण **आचार्य शुक्ल** इसे **'पंच-मेल खिचड़ी'** अथवा **'सधुक्कड़ी'** भाषा कहकर पुकारते हैं। कुछ भी हो, कबीर की भाषा है बड़ी समर्थ। जिस भाव को कबीर प्रकट करना चाहते हैं, भाषा चुपचाप उसी भाव को प्रकट करने लगती है। इसी विशेषता के कारण **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने कबीर को **'भाषा का डिक्टेटर'** कहा है।

कबीर की शैली उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। सहजता, सजीवता और निर्द्वन्द्वता उनकी शैली में सर्वत्र विद्यमान है। कहीं-कहीं विरोधाभास और दुर्बोधता एवं तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता आदि के भी दर्शन होते हैं। कबीर की शैली पर्वतीय निर्झर की भाँति सहज वेग और स्वच्छन्द गतिमय प्रवाह से परिपूर्ण है।

कबीर के काव्य में अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में आ गये हैं। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, सांगरूपक, अन्योक्ति, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकार उनकी रचनाओं में प्रायः प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं। कबीर के छन्द प्रायः दोषपूर्ण हैं। साखियों में 'दोहा' छन्द का प्रयोग है। इसमें अनेक स्थानों पर मात्राओं का ध्यान नहीं रखा गया है। 'सबद' और 'रमैनी' में गेय-पद हैं। 'कहरवा' आदि छन्द भी हैं। ये भी सदोष हैं।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। जो कुछ उन्होंने अनुभव किया, उसे बेधड़क

होकर यथार्थ रूप में प्रकट कर दिया। इस प्रयास में कलात्मक पक्ष अर्थात् भाषा, छन्द, अलंकार आदि के सौन्दर्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया। अतः कविता का यह कला-पक्ष कबीर द्वारा उपेक्षित है। पर उनकी कविता में जो खरी अनुभूति है, उसने कला को अपने अनुसार ढलने के लिए विवश कर दिया है। इसीलिए विद्वानों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि "कबीर की भाषा अधिकतर अनगढ़, छन्द अशुद्ध और अभिव्यक्ति प्रायः शिथिल है, फिर भी उसमें काव्य का ऊँचा रूप विद्यमान है।"

युग को दिशा देने की दृष्टि से कबीर का विशेष महत्त्व है। समाज-सुधारक और क्रांतिकारी युग-निर्माता के रूप में वे सदैव स्मरण किये जायेंगे। आधुनिक युग में भी उनके आदर्श हमारे पथ को आलोकित करने में पूर्ण समर्थ हैं। हिन्दी-साहित्य में निर्गुण-भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों में उनका स्थान मूर्द्धन्य है। सचमुच, उनकी कविता लोक-मंगल की भूमि पर प्रवाहित होने वाली वह पावन सरिता है, जो विज्ञान की भौतिकता के ताप-शाप से सन्तृप्त आज के मानव को अनन्त आह्लाददायिनी शीतलता प्रदान करने में पूर्ण सक्षम है। वस्तुतः कबीर की रचनाओं का महत्त्व उनमें अन्तर्निहित सन्देश के कारण है।

२. मलिक मुहम्मद जायसी

प्रेम की पीर के अमर गायक मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी की निर्गुण भक्ति-धारा की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कबि के रूप में विख्यात हैं। उनका 'पद्मावत' प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का अद्वितीय ग्रन्थ-रत्न है।

जीवन वृत्त—जायसी के जन्म-स्थान, तिथि आदि के विषय में विद्वानों में मतभेद है। स्वयं जायसी से प्राप्त सूत्रों के अनुसार जायसी का जन्म रायबरेली के निकट 'जायस' नामक, स्थान पर सन् १४९३ में हुआ था। जायसी ने स्वयं लिखा है—

"जायस नगर मोर अस्थानू, नगरक नाँव आदि उदयानू।"

इनका पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी है। इनके माता-पिता के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं मिलता है। ये अपने नाना के यहाँ रहे थे। बाद में सूफी सन्त शेख मेंहदी और मुबारक शाह बोदले से इन्होंने दीक्षा ली। शिक्षा की दृष्टि से यह बालक प्रकृति की उन्मुक्त गोद में जीवन की पाठशाला में ही पढ़ा था।

शरीर से कुरूप जायसी अन्तःकरण से बड़े तेजस्वी थे। एक धर्मनिष्ठ

मुसलमान थे, सच्चे सूफी सन्त थे, समस्त प्रचलित धर्म-सिद्धान्तों से परिचित फकीर थे। कहा जाता है कि जायसी गाजीपुर और भोजपुर के राजा महाराजा जगदेव के आश्रय में रहे थे। बाद में वे अमेठी नरेश रामसिंह के आग्रह पर उनके दरबार में गये। अमेठी के निकटवर्ती वन में दुर्घटनावश सन् ६४६ हिजरी अर्थात् १५४१ ई० में जायसी की मृत्यु हो गयी। नरेश द्वारा अमेठी के महल के पास ही उनकी समाधि बनवा दी गयी, जो अवशेष रूप में आज भी विद्यमान है।

रचनाएँ—जायसी के नाम से अनेक रचनाओं का उल्लेख विद्वानों द्वारा किया जाता है। इनमें से अब तक उपलब्ध रचनाएँ हैं—(१) **पद्मावत**—यह प्रेमगाथा परम्परा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेमगाथा के बहाने से इसमें मन की अध्यात्म-साधना को स्पष्ट किया गया है। इसी ने जायसी को हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठा दिलायी है। (२) **आखिरी कलाम**—इसमें इस्लाम धर्म की मान्यता के अनुसार अन्तिम प्रलय का वर्णन किया गया है। (३) **अखरावट**—शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, यही इसका वर्ण्य-विषय है। यह रचना जायसी की आध्यात्मिक विचारधारा का श्रेष्ठ प्रकाशन है। (४) **महरी बाईसी या कहरानामा**—यह भी एक प्रेम-कथा है। इसमें कहारों के जीवन और विवाह के माध्यम से कवि ने अपने आध्यात्मिक विचारों को वाणी दी है। (५) **चित्ररेखा**—यह भी प्रेमगाथा पम्परा की उत्कृष्ट रचना है। इसमें चन्द्रपुर के राजा चन्द्रभानु की कन्या चित्ररेखा और कन्नौज के राजकुमार प्रीतमसिंह की प्रेम-कथा है। (६) **मसला**—यह अभी अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हुई है। इसमें अवध प्रान्त के मसलों (लोकोक्तियों) का बड़ा ही जीवन्त प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त सखरावत, चम्पावत, चित्रावत, होलीनामा, पोस्तीनामा आदि अन्य अनेक रचनाएँ भी जायसी द्वारा रचित बतायी जाती हैं। पर वे अब तक अनुपलब्ध ही हैं।

कवित्व—जायसी प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनके अनुसार मनुष्य प्रेम से ही दिव्य बनता है। यही कारण है कि रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम का मार्मिक वर्णन 'पद्मावत' में हुआ है। साथ ही वे सौन्दर्य के मर्मज्ञ चित्रकार हैं। पद्मावती का नख-शिख वर्णन इसका प्रमाण है, हमें उनके प्रेम और सौन्दर्य-वर्णन में दिव्यता का स्पर्श भी मिलता है।

जायसी सूफी सन्त थे। अतः उनके काव्य में प्रेम की महान् साधना की सूफी पद्धति सर्वत्र देखी जा सकती है। सूफी मत में प्रेम की अनन्य साधना से ही ईश्वर-प्राप्ति को सम्भव बताया गया है तथा आत्मा द्वारा परमात्मा से वियोग की तीव्र अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है। जायसी के अनुसार भी परमात्मा के अनन्त प्रेम में डूबा वियोगी साधना-मार्ग की नाना कठिनाइयों को पार करता हुआ अन्त में अपने अराध्य में लीन हो जाता है।

रहस्यवाद— जायसी परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। सारी प्रकृति उसी परम सत्ता का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए प्रकृति अनन्त सौन्दर्यमयी है। इसका सौन्दर्य उस परमात्मा का ही सौन्दर्य है। देखिए—

"रवि ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥"

× × ×

"उन्ह बानन अस को जो न मारा। बेधि रहा सिगरो संसरा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने॥"

× × ×

"ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भरपूर।"

ऐसे परम सुन्दर ज्योतिरूप परमात्मा का ज्ञान गुरू कराते हैं। उसका ज्ञान होते ही साधक (जीव) उससे मिलने के लिए आतुर हो उठता है। वह संसार से विरक्त होकर परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्न करता है। तीव्र विरहानुभूति में डूबा साधक साधना-मार्ग की नाना कठिनाइयों को पार करता है। अन्त में वह उस परमात्मा से मिलकर अनन्त आनन्द भोगता है। वह उसमें ही लय हो जाता है। जायसी ने अपने महाकाव्य 'पद्मावत' में इन सभी स्थितियों का अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक वर्णन किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"जो गुरु अगुवा होइ सखि, मोहि लावै पथ माँह।
तन-मन-धन अरपन करौं, जो रे मिलावहि नाँह॥"

और गुरु की कृपा से उस परमात्मा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाने पर साधक की दशा ऐसी हो जाती है—

"प्रेम-घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
कठिन मरन तै प्रेम बेबस्था। ना जिउ-जियै न दसवै अवस्था।"

× × ×

मन में वैराग्य जागता है और साधक पागल-सा हो उठता है—

"जब भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनौ सोई उठि जागा॥"

और फिर साधक की यात्रा आरम्भ होती है—

"तजा राज राजा भा जोगी ।"

× × ×

"चला भुगुति माँगे कहँ, साधि कथा जप जोग ।"

फिर तमाम बाधाओं से सामना होता है—

"है आगे परबत कै बाटा । विषम पहार अगम सुठि घाटा ।"

× × ×

"बिच-बिच नदी खोह औ नारा । ठाँवहिं ठाँव बैठ बटमारा ।"

इस सबके बाद उस लोक की निकटता प्राप्त होती है, परमात्मा का साक्षात्कार होता है और फिर उससे मिलन होता है। देखिए मिलन-दशा का यह चित्र—

"नैन माँह है उहै समाना । देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना ॥
आपन रस आपुहि पै लेई । अधर सोइ लागे रस देई ॥"

इस प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' में परमात्मा की ही एक मात्र सत्ता स्वीकार की है। वह परमात्मा सर्वव्यापक है। प्रकृति उसका ही प्रतिविम्ब है। जीवात्मा और उसमें तत्वतः कोई भेद नहीं है। न जाने किसने इन्हें अलग कर दिया है—

"धरती सरग मिले हुत दोऊ । केहि निबारि कै दीन्ह बिछोऊ ॥"

इस एकत्व की प्राप्ति के लिए (१) जीव की जिज्ञासा, (२) मिलन का प्रयास, (३) विरहानुभूति की तीव्रता, (४) मिलन-मार्ग में बाधा, (५) बाधा पर विजय, (६) प्रिय (परमात्मा) का साक्षात्कार, और (७) मिलन का आनन्द—इन सभी का विस्तार से 'पद्मावत' में वर्णन हुआ है।

जायसी के इस रहस्यवाद को भावात्मक रहस्यवाद कहा गया है। उन्होंने प्रेम को ही सब कुछ मानते हुए भावना के धरातल पर आत्मा और परमात्मा के बिछोह, तड़प और मिलन के चित्र अंकित किये हैं। इसके साथ ही जायसी ने सारी प्रकृति को उस परमात्मा का प्रतिबिम्ब मानते हुए उसमें उसकी (परमात्मा की) छवि का असीम सौन्दर्य देखा है। इसलिए उनका रहस्यवाद **प्रकृतिमूलक** है।

हठयोग की साधना द्वारा ज्ञान के धरातल पर जीव द्वारा परमात्मा से मिलन की अनुभूति **साधनात्मक रहस्यवाद** के अन्तर्गत आती है। कबीर का

रहस्यवाद इसी प्रकार का है। जायसी में भी सिंहलगढ़ वर्णन के समय साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। यथा—

"नव पँवरी पर दसंव दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा।"

× × ×

"गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी।" आदि।

किन्तु जायसी में प्रधानता भावात्मक रहस्यवाद की ही है, जिसमें अद्भुत मार्मिकता है।

जायसी आत्मा, जगत् और परमात्मा में अभेद स्वीकार करते हैं। इससे उन पर **अद्वैतवाद का प्रभाव** स्पष्ट दिखाई देता है। साथ ही, प्रकृति को भी परमात्मा का ही रूप मानने के कारण वे **सर्वात्मवाद** से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। **सूफी साधना** का तो उन पर स्पष्ट प्रभाव है ही। इन सबके समन्वित रूप से जायसी के काव्य में रहस्यवाद का जो स्वरूप उभरा है, वह मूलतः अद्वैतवादी ही है।

इस प्रकार, **जायसी का प्रकृतिमूलक भावात्मक रहस्यवाद अद्वैतमूलक है।** वह भावपूर्ण होने के कारण अति रमणीय है, सरस है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने ठीक ही कहा है, "हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है, तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत उच्चकोटि की है।"

वियोग-वर्णन—सूफी सन्त महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी प्रेम की पीड़ा के अमर गायक हैं। सूफी मत में आत्मा की परमात्मा के लिए छटपटाहट का विशेष महत्त्व है। यही कारण है कि जायसी के 'पद्मावत' में वियोग-वर्णन के अंश अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। 'नागमती-वियोग-वर्णन' तो हिन्दी काव्य की अनुपम निधि है। चित्तौड़ का राजा रत्नसेन हीरामन तोते के मुख से सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर, उसे प्राप्त करने के लिए योगी बन कर चला गया है। उसकी विवाहिता प्रिया रानी नागमती उसकी बाट जोहती रहती है। प्रियतम नहीं लौटते। वह विरह में छटपटाने लगती है। जायसी ने विरहिणी नारी के हृदय की व्यथा को पूरी गहराई से अनुभव किया है और उसे सशक्त वाणी में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। इस अंश के भाव और कला दोनों ही पक्ष पुष्ट हैं।

विरह की तीव्र अनुभूति, गहन वेदना, प्रियतम को ले जाने वाले तोते के प्रति क्रोध का भाव, पद्मावती के प्रति ईर्ष्या, सुहावनी ऋतु में अन्य स्त्रियों

को प्रिय के साथ आनन्द मनाते देखकर अपनी विरह-दशा के प्रति विवशतापूर्ण व्यथा की अनुभूति आदि—**नागमती की नाना मनोदशाएँ इस अंश में व्यक्त** हुई हैं। चित्तौड़ को आने वाले मार्ग की ओर एकटक देखती हुई नागमती क्रोध और व्यथा में भरकर कह उठती है—"**सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात बरु जीऊ।**" और वह विरह की तीव्र अनुभूति में डूबकर पुकार उठती है—

> **"सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ?**
> **झुरि-झुरि पींजर हौ भई, विरह काल मोह दीन्ह ॥"**

यह पीड़ा यहाँ तक बढ़ती है कि— **नागमती मरणासन्न हो उठती है।** उसकी नाड़ियाँ निष्प्राण होने लगती हैं, साँस आती है और रुक जाती है, प्राण प्रयाण करने लगते हैं। उसकी इस व्यथा को बढ़ाने के लिए तब तक आषाढ़ के मेघ गगन में घिर आते हैं—"**चढ़ा आषाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंदल बाजा।**" और बेचारी नागमती आह भरती हुई कह उठती है—

> **"जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्व।**
> **कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व ॥"**

सावन में सखियाँ हिण्डोले झूलती हैं, तो नागमती का हृदय हिण्डोले-सा डोलने लगता है, जैसे—"**बिरह झुलाइ देइ झकझोरा।**" भादों की काली रातों में उसे सेज नागिन बनकर डसने लगती है। सब ओर हरियाली छा जाती है, पर "**धनि सूखै भरे भादों माहाँ।**" बढ़ते-बढ़ते यह विरहाग्नि नागमती को पूर्णतः भस्म करने लगती है। भीतर-ही-भीतर सुलग-सुलग कर उसका यौवन क्षार हुआ जा रहा है। प्रिय को भला क्या पता कि उसकी प्रिया उसके वियोग में जल-जल कर राख हुई जा रही है। अतः नागमती भौंरे और काग से कहती है—

> **"पिउ सौं कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग।**
> **सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग ॥"**

इस प्रकार, जायसी ने बारहों महीनों में प्रकृति के परिवर्तन के साथ नागमती की निरन्तर बढ़ती हुई विरह-व्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। इस वियोग-वर्णन में हमें प्रेम का पूर्ण उत्कर्ष देखने को मिलता है। नागमती भस्म होकर भी प्रिय के चरणों का स्पर्श पा लेने को आकुल है—

> **"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन ! उड़ाव'।**
> **मकु तेहिं मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ॥"**

यह है भारतीय पतिपरायणा गृहिणी का अनन्य पति-प्रेम ! जायसी का विरह-वर्णन भारतीय नारी के हृदय की करुण पुकार है। यह किसी रानी के विरह का शिष्टाचारपूर्ण औपचारिक प्रेम और विरह-प्रदर्शन नहीं है। उसमें सामान्य नारी के विरही हृदय की चीत्कार सुन पड़ती है। नागमती अपने नाथ के बिना सचमुच अनाथ होकर करुण विलाप करने लगती है। उसका विरह वास्तविक है, कृत्रिम नहीं।

इस प्रकार भाव की गहराई, यथार्थता, व्यापकता और मार्मिकता के कारण यह अंश हमारे हृदय को छू लेता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी साहित्य की अनूठी निधि है।

जायसी के महाकाव्य में वस्तु-वर्णन का बाहुल्य है। नगर, द्वीप पर्व-त्यौहार, पनघट, वाटिका, युद्ध, विवाह आदि के विस्तृत वर्णन मिल जाते हैं। इनमें कहीं-कहीं तो केवल वस्तुओं के नाम गिना दिये गये हैं, पर कहीं-कहीं ये वर्णन अत्यन्त चित्रोपम, भावमय, मार्मिक और मोहक बन पड़े हैं।

सहृदय कलाकार जायसी ने प्रकृति को बड़े भावुक हृदय से देखा है और वे उस पर मुग्ध हो उठे हैं। जायसी के भावमय प्रकृति-चित्रण का यही रहस्य है। उनका षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासा इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकृति-वर्णन के प्रायः सभी रूप जायसी के 'पद्मावत' में विद्यमान हैं। डॉ० **द्वारिकाप्रसाद सक्सेना** के शब्दों में—"पद्मावत प्रकृति-पटी पर अंकित मानव मनोभावों का आकर्षक चित्र है तथा विविध अलंकारों से सुसज्जित प्रकृति-वधू का शृंगार है।"

जायसी रस-सिद्ध कवि हैं। प्रायः सभी रसों का सुन्दर परिपाक उनकी रचनाओं में हुआ है। सामान्यतः शान्त रस उनके काव्यों की मूल धारा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का हृदयकारी चित्रण हुआ है। गोरा के युद्ध वर्णन में वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि रसों की व्यंजना बड़ी मार्मिक है। करुण रस के हृदय-द्रावक प्रसंग भी पद्मावत में मिल जाते हैं।

जायसी ने जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली अवधी भाषा में काव्य-रचना की है। यों कहीं-कहीं अपभ्रंश तथा अरबी-फारसी के शब्द भी मिल जाते हैं, तथापि उनकी भाषा ठेठ अवधी है। जायसी की भाषा लोक-भाषा है जिसमें अद्भुत भावव्यंजकता है, सरलता है, मधुरता है और सजीवता है। जन-वाणी

की इस पावन-गंगा में 'प्रेम की पीर' को स्नान कराके जायसी ने उसे जन-जन के लिए अभिनन्दनीय बना दिया है।

जायसी से पूर्व फारसी में मसनवी शैली प्रचलित रही थी। हिन्दी में चरित काव्यों की एक विशेष शैली थी। जायसी ने दोनों को मिलाकर एक नया रूप प्रदान किया। काव्य-रूप की दृष्टि से वे प्रबन्ध शैली के प्रथम सिद्ध कवि हैं। इसके अतिरिक्त, 'पद्मावत' में जायसी ने प्रतीकात्मक अन्योक्ति शैली का प्रयोग किया है, क्योंकि यहाँ लौकिक प्रेम-कथा के माध्यम से अध्यात्म-साधना की व्यंजना की गयी है।

जायसी ने कविता के सौन्दर्य को अलंकारों के मनोहारी प्रयोग से और भी बढ़ा दिया है। प्रायः उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का जायसी के काव्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। जायसी की उत्प्रेक्षाएँ तो कहीं-कहीं बेजोड़ हैं। सम्भवतः यही इस कवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

जायसी ने दोहा और चौपाई छन्दों में उत्कृष्ट महाकाव्य 'पद्मावत' की सफल रचना की है। डॉ० शिवसहाय पाठक लिखते हैं कि "जायसी की महानता इस बात में भी है कि उन्होंने तुलसीदास से पूर्व दोहा-चौपाई में इतने विशाल और प्रौढ़ काव्य की सर्जना की थी।" अन्य रचनाओं में अन्य छन्दों का प्रयोग भी सफलता से किया है।

जायसी ने हिन्दू कहानियों को अपनी काव्य-रचना का आधार बनाया है। उनमें कहीं-कहीं वे भ्रमवश भूलें कर गये हैं। भाषा में कहीं-कहीं व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी आ गयी हैं। पर ये सब नगण्य हैं।

जायसी के काव्य का भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों ही समृद्ध हैं। डॉ० जयदेव के मत से जायसी का 'पद्मावत' ही 'हिन्दी साहित्य का प्रथम निर्दोष एवं सरस महाकाव्य है।'''एक प्रकार से जायसी हिन्दी के सर्वप्रथम महाकाव्य-कार हैं।' जायसी का स्थान सूफी प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा में तो सर्वोपरि है ही, उनका महत्त्व इस बात में भी है कि भाषा, छन्द आदि की दृष्टि से तुलसी उनसे प्रभावित हुए हैं। मीरा के प्रेम-दीवानेपन में, छायावादी और रहस्यवादी कविता—विशेषरूप से महादेवी वर्मा—में प्रेम की जो टीस मिलती है, उस पर भी जायसी की सूफी प्रेम-पद्धति का प्रभाव है। वास्तव में जायसी के बाद

से आज तक के हिन्दी-साहित्य में प्रेम-पीर की जो मधुर कसक यत्र-तत्र व्यक्त हुई है, उनमें भी प्रेम-मधु-मधुप जायसी के गुंजन की अनुगूँज ही सुनायी देती है।

३. सूरदास

भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग है और सूर इस युग के आलोक-मय कविरत्न हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा प्रेम और सौन्दर्य का जो चित्रण अन्धे कवि सूर ने अपनी दिव्य-दृष्टि से किया है, वह अनुपम है। सूर-काव्य का प्रत्येक पद श्रीकृष्ण के मधुर प्रेम-सौन्दर्य के दिव्य रस से अभिषिक्त है।

जीवन वृत्त—महाकवि सूरदास का जन्म संवत् १५४० में आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर स्थित 'रुनकता' नामक ग्राम में हुआ था। कुछ विद्वान् आपकी जन्म-भूमि दिल्ली के निकट स्थित 'सीही' मानते हैं। पुष्टिमार्ग के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर आपकी नियुक्ति श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तनिया के रूप में की थी। वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथजी ने जब 'अष्टछाप' की स्थापना की तब 'सूर' को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त हुआ। यावत् जीवन आप गऊघाट पर रहते हुए, भागवत् के आधार पर प्रभु-लीला के पदों का सृजन एवं गायन करते रहे।

क्या सूरदास जन्मांध थे? इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है। सूर की रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि जन्मांध व्यक्ति रंग-रूप की ऐसी सजीव कल्पना कर ही नहीं सकता। एक किंवदन्ती के अनुसार किसी स्त्री के प्रेम में सूर ने स्वयं ही अपने नेत्र फोड़ लिए थे। सचाई कुछ भी हो, हमारे मत से सूर बाद में ही अन्धे हुए। वे जन्मान्ध नहीं थे।

महात्मा सूरदास की मृत्यु मथुरा के निकट पारसोली नामक ग्राम में संवत् १६२० (सन् १५६३ ई०) में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की उपस्थिति में हुई थी। कहा जाता है उस समय सूरदास 'खंजन नैन रूप रस माते' पद का गायन कर रहे थे।

रचनाएँ—सूरदास द्वारा रचित प्रायः तीन रचनाएँ विद्वानों द्वारा मान्य हैं—

(I) **सूरसागर**—इसमें श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं को गेय पदों में प्रस्तुत किया गया है। कहा जाता

है कि 'सूर-सागर' में सवा लाख पद थे, किन्तु अब तक ६-७ हजार से अधिक पद प्राप्त नहीं हो सके हैं। 'सूरसागर' में सूर की काव्य प्रतिभा का अनन्त विस्तार देखा जा सकता है। वात्सल्य और शृंगार का अक्षय कोष यह 'सूर-सागर' ही कवि की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

(२) **सूर-सारावली**—'सूरसागर' के सार रूप इस ग्रन्थ में ग्यारह सौ सात छन्द संग्रहीत हैं।

(३) **साहित्य-लहरी**—इसमें साहित्य में वर्णित अन्य रसों का भी परिपाक मिलता है। एक सौ अठारह पदों के इस संग्रह में सूर के दृष्टकूट पद भी सम्मिलित हैं।

कवित्व—

सूरदास हिन्दी की सगुण-भक्ति धारा के कृष्णोपासक कवियों में मूर्द्धन्य हैं। उनका काव्य तन्मयता का काव्य है। अतः उनका भावपक्ष बड़ा ही सशक्त है। साथ ही भाव की सहज अभिव्यक्ति में स्वाभाविक रूप से कलात्मक सौन्दर्य भी आ गया है।

मूलतः सूरदास भक्त थे। भगवद्भजन ही उनका काव्य था, वही उनका जीवन था। अतः उनकी कविता में भक्त-हृदय के नाना उद्गार व्यक्त हुए हैं। कृष्ण-चरणों में उनकी भक्ति अनन्य है—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै।"

सूर की भक्ति सखा-भाव की भक्ति है। वे श्रीकृष्ण को सखा मानते हैं। इसलिए वे अपने आराध्य की समस्त बाल-लीलाओं और प्रेम-लीलाओं का निः-संकोच तन्मयता से वर्णन कर सके हैं।

सूरदास अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि हैं। उनके पदों में मानव-मन के नाना भावों का मार्मिक वर्णन हुआ है। बालक कृष्ण के, उनके सखा गोप-बालकों के, माता यशोदा और पिता नन्द के विविध भावों को सूर ने अति स्वाभाविक यथार्थता से व्यक्त कर दिया है। कृष्ण-गोपी प्रेम-वर्णन में ऐसा कोई भाव सूर की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है, जो किसी प्रेमी के हृदय में उठ सकता है।

यों तो 'सूरसागर' में हास्य, अद्भुत आदि रसों की भी योजना हुई है, तथापि शान्त, वात्सल्य और शृंगार की त्रिवेणी ने ही इसे अलौकिक सौन्दर्य

प्रदान किया है। सूर की उत्कृष्ट रस-योजना के आधार पर ही **डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उन्हें 'रससिद्ध कवि'** कहा है।

वात्सल्य—बाल-चरित्र और उससे उद्दीप्त माता-पिता के हृदयगत वात्सल्य का जैसा स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और सरस वर्णन सूरदास ने किया है, वैसा सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। **आचार्य शुक्ल** उन्हें वात्सल्य का अद्वितीय कवि मानते हैं। किलकते हुए कृष्ण का घुटनों दौड़ना, अपनी छाया पकड़ना, सोते में कभी-कभी होठ फड़काने लगना, माखन-चोरी में पकड़े जाने पर बहाने बनाना, खेलते समय खिसिया जाना, चोटी बढ़ाने की लालसा आदि बाल-चेष्टाओं के मोहक चित्र सूर-काव्य में बिखरे पड़े हैं। साथ-ही इन बाल-क्रीड़ाओं पर नन्द यशोदा का भाव-विभोर हो उठना भी देखते ही बनता है। सचमुच सूर 'वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आये हैं।'

सूरदास ने बालकृष्ण के अनुपम सौन्दर्य, उनकी मनोहारी क्रीड़ाओं और मनोभावों का जो चित्रण किया है, वह अत्यन्त हृदयहारी है; यथा—

बाल-छवि—**"हरिजू की बाल-छबि कहौं बरनि।**
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा हरनि।"
"सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधिलेप किए॥

बाल-चेष्टाएँ—**"किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।**
मनिमय कनक नंद के आँगन बिम्ब पकरिबे धावत।"

बाल-मनोभाव—**"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।"**
"खेलन अब मेरी जाति बलैया।
जबहिं मोहि देखत लरिकन सँग तबहिं खिझत बल भैया॥"

वात्सल्य के आलम्बन, उद्दीपन के साथ-ही उनके आश्रय (माता-पिता) तथा उनके अनुभावों का विशद चित्रण भी सूर ने किया है; उदाहरणार्थ—

(अ) **"यशोदा हरि पालने झुलावै,**
हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहे न आन सुवावै।"

(ब) **"जसुमति मन अभिलाष करै।**
कब मेरो लाल घुटुरुअन रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।"

(स) "बाल-दसा सुख निरखि जसोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावति ।
अंचरा तन लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावत ।"

सूर ने गोकुल में कृष्ण की बाल-लीलाओं और नन्द-यशोदा के 'बाल-दसा-सुख' का वर्णन करके संयोग वात्सल्य के नाना चित्र प्रस्तुत किये हैं, तो कृष्ण के मथुरा जाने पर माता यशोदा और नन्द के हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति में वियोग-वात्सल्य की मार्मिक झाँकी मिलती है। यशोदा का यह सन्देश देखिए—

"सन्देसो देवकी सौं कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करत ही रहियो ।।
तुम तो टेब जानतिहि ह्वै हौ, तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल लड़तेहि, माखन-रोटी भावै ।।"

मथुरा से नन्द खाली हाथ लौटे हैं। माता यशोदा पुत्र-वियोग में उन पर बरस पड़ती हैं—

"छाँड़ि सनेहु चले मथुरा कत, दौरि न चीर गह्यो ।
फाटि न गयी बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो ।।"

और बस, नन्द की 'बज्र की छाती' सचमुच फट पड़ती है। वे यशोदा पर ही इसका आरोप लगाते हुए कहते हैं—

"तब तू मारिबोई करति ।
रिसनि आगे कहै जो आवति, अब लै भाँड़े भरति ।"

सूर का वात्सल्य-वर्णन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वे बाल-मनोविज्ञान के भी पारखी हैं और मातृ-पितृ मनोविज्ञान के भी। तभी तो दोनों पक्षों के इतने स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक चित्र वे उपस्थित कर सके हैं। सूरदास के अनुपम वात्सल्य-वर्णन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"बाल-स्वभाव के वर्णन में सूरदास बेजोड़ समझे जाते हैं।········ बाल-स्वभाव चित्रण में वे एक तरह का अपना अनुभव करते जान पड़ते हैं और ठीक उसी प्रकार मातृ-हृदय का मर्म भी समझ लेते हैं।" सचमुच, सूरदास ने अपनी बन्द आँखों से वात्सल्य के क्षेत्र की जैसी रंगमय मधुर झाँकी प्रस्तुत की है, वैसी विश्व-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। सूर वात्सल्य-रस के एकछत्र सम्राट् हैं।

शृंगार—प्रेम के कवि सूरदास ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सजीव चित्रण किया है। कृष्ण और राधा तथा गोपियों के सौन्दर्य और प्रेमोन्माद के मधुर-मदिर चित्र संयोग के क्षणों में उभरे हैं। राधा को देखते ही कृष्ण खो जाते हैं और—"बूझत स्याम कौन तू गोरी।"

यहाँ से आरम्भ मिलन की मादकता को सूरदास ने अनेकानेक पदों के चषकों में सँजोया है।

संयोग के साथ ही सूर ने विरह का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त ही विशद और मार्मिक है। उनका विरह चित्रण उभयपक्षीय है। ब्रज को छोड़कर मथुरा आ गये कृष्ण के मन में ब्रज की स्मृति उठती है और उन्हें व्यथित कर जाती है। वे अपने अन्तरंग सखा उद्धव से कहते हैं—

> "ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
> हंस-सुता की सुन्दर नगरी, अरु कुंजन की छाहीं॥
> यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
> जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।"

कृष्ण उद्धव को ब्रज भेज देते हैं। बस, फिर तो ब्रज की विरहिणी गोपियों की व्यथा को सूर बहुत ही गहराई से अनुभव करके बड़ी मार्मिकता से व्यंजित करते हैं। बेचारी गोपियों के नयन हर पल कृष्ण-दर्शन के लिए ही लालायित रहते हैं—"अँखियाँ हरि दर्शन की भूखीं।"

उनके नयनों से रात-दिन अश्रु-वर्षा होती रहती है। इसका कारण है—यह प्रेम आज का नहीं, बचपन का ही है। भला गोपियाँ इस प्रेम को भूलें भी तो कैसे भूलें—

> "लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि, कैसे छूटत ?
> कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अंतरगत लूटत॥"

कृष्ण के वियोग में गोपियाँ पागल-सी होकर जागते-सोते दिन-रात 'कृष्ण-कृष्ण' ही रटती रहती हैं। कृष्ण ही तो उनके जीवनाधार हैं—

> "हमारैं हरि हारिल की लकरी!
> मन-क्रम-वचन नन्द-नन्दन उर, यह दृढ़ करि पकरी।
> जागत-सोवत-स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।"

गोपियों के विरह-ताप की गहनता और उनकी छटपटाहट प्रत्येक सहृदय

को द्रवित कर देती है, जब वे कहती हैं कि उद्धव, तुमने तो सारे ब्रज को आँवे का रूप देकर इसमें विरह की ज्वाला भड़का दी है। "ब्रज करि अँवा, जोग करि इंधन, सुरति अगिनि सुलगाये।" सोचिए, विरह-ज्वाला से जलते इस आँवे में बेचारी गोपियों पर क्या बीतती होगी !

विरहिणी गोपियों की व्यथा उन्हीं तक सीमित नहीं रही है। वह व्यापक होकर बाह्य प्रकृति में भी समा गयी है। तभी तो गोपियों को यमुना भी कृष्ण के विरह-ज्वर में जलने के कारण काली हुई दिखाई देती है—

"देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो, पथिक कहियो उन हरि सौं भई विरह-जुर जारी।"

गोपियों और विरहिणी यमुना की दशा में कोई अन्तर नहीं रह गया है—

"सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।"

कृष्ण के वियोग में प्रकृति की सुखद वस्तुएँ भी दुखदायी हो गयी हैं। गोपियाँ कहती हैं—"पिया बिनु नागिन कारी रात।"

तथा—**"बिन गुपाल बैरिनि भई कुंजैं।**
तब वे लता लगति तन सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।"

सूरदास ने गोपियों के विरह का वर्णन इतनी विशदता से किया है कि उसमें विरह की सभी दशाओं के चित्र मिल जाते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

अभिलाषा—"बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी।"

स्मृति—"मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं।"

उन्माद—"एक ग्वारि गोधन लै रेंगति एक लकुटि कर लेति।
एक मंडली करि बैठारति छाक बाँटि के देति।"

इस प्रकार, सूर ने गोपियों के विरह का बहुत ही सूक्ष्म, विशद एवं मार्मिक वर्णन किया है। ऊधौ के प्रति व्यंग्यों और कृष्ण की निष्ठुरता के लिए दिये गये उपालम्भों आदि में भी गोपियों की अन्तर्व्यथा ही मुखर हुई है। वे अति विवशता से व्यथित होकर शिकायत करती हैं—

"प्रीति करि दीन्ही गरैं छुरी।
जैसे बधिक चुगाई कपट-कन पाछैं करत बुरी।"

इतना होने पर भी कृष्ण के प्रति उनका प्रेम अविचल है। विरह ने उस प्रेम को और भी पुष्ट किया है। तभी तो वे कहती हैं।—"ऊधौ बिरहौ प्रेम करै।"

वस्तुतः सूरदास ने वियोगिनी गोपियों के हृदय में प्रवेश करके उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का साक्षात्कार किया है और उसे अपने काव्य में अत्यन्त मार्मिक रूप में व्यक्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के इस विरह-वर्णन की सराहना करते हुए लिखा है—"गोपियों की वियोग दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है, उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है, कौन गिन सकता है।........ शृंगार रसराज कहलाता है, इस दृष्टि ने यदि सूरसागर को रस-सागर कहें तो बेखटके कह सकते हैं।"

शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों की इसी पूर्णता को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि शृंगार का रस-राजत्व यदि हिन्दी में कहीं मिलता है तो केवल सूर में।

सूर ऐसे प्रथम कवि हैं जिन्होंने बोलचाल की ब्रजभाषा को सुललित साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। इनकी भाषा में सरसता, सरलता और भाव-प्रकाशन की अद्‌भुत् क्षमता है। कहीं-कहीं अवधी, फारसी, संस्कृत आदि के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। लोकोक्तियों के सटीक प्रयोग ने इस भाषा को चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य प्रदान किया है। माधुर्य उसमें सर्वत्र विद्यमान है। सूर की इसी भाषा को आगे के कवियों ने आदर्श भाषा के रूप में स्वीकार किया है।

सूरदास ने गेय-पद-शैली में काव्य रचना की है। कथा-वर्णन के स्थलों में सूर की शैली वर्णनात्मक है। माधुर्य और प्रसाद गुण उनकी शैली में सर्वत्र विद्यमान हैं। हाँ, दृष्टकूट पदों में उनकी शैली दुरूह हो गयी है। सूर की शैली की एक प्रधान विशेषता उसकी वचन-वक्रता और वाग्विदग्धता है।

सूरदास के काव्य में अलंकारों की स्वाभाविक छटा देखते ही बनती है। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—'सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-

शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमानों की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।' छन्द की दृष्टि से सूरदास ने मुक्तक पदों में कविता की है। ये पद आज भी कुशल संगीतज्ञों द्वारा पूर्ण तन्मयता से गाये जाते हैं। वस्तुतः संगीत छन्द की आत्मा है, और सूर ने इस धर्म को भली-भाँति समझा है।

निश्चय ही, सूर की कविता में भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों का अद्भुत उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा गया है कि 'सूर' में जितनी सहृदयता और भावुकता है, उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है।

सूर कृष्ण-काव्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। व्रजभाषा को काव्य-भाषा का स्वरूप प्रदान करने, सगुण-भक्ति की अवाध-धारा (तुलसी से पूर्व) प्रवाहित करने और उत्कृष्ट मुक्तक काव्य-रचना की दृष्टि से उनका महत्त्व सर्वोपरि है। वात्सल्य और शृंगार के वे अनूठे कवि हैं। उनके काव्यालोक से गद्गद् और चमत्कृत हिन्दी-जगत् सहसा उन्हें 'सूर्य' के रूप में देखने लगा, यह स्वा- भाविक ही है। सत्य ही है—

"सूर-सूर तुलसी ससि, उडुगन केशवदास ।।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास ।।"

४. गोस्वामी तुलसीदास

रामचरित की पावन गंगा को संस्कृत-साहित्य की शिव-जटाओं से उतार-कर शोक-संतप्त भारतीय जन-मानस को पावन शीतलता प्रदान करने का सम्पूर्ण श्रेय यदि किसी को जाता है, तो वे प्रातः स्मरणीय महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ही हैं। आदर्श सन्त, भारतीय संस्कृति के गायक और संरक्षक, राम के अनन्य भक्त, समन्वयकारी लोकनायक तुलसीदास हिन्दी कविता-कामिनी के ललाट पर जड़े ऐसे ज्योति-बिन्दु हैं, जिसकी उज्ज्वल रश्मियाँ विश्व के साहित्यकारों को निरन्तर चमत्कृत कर रही हैं।

जीवन-वृत्त—गोस्वामी तुलसीदास के जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

"पन्द्रह सौ चौवन बिसे, कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्यो शरीर ॥"

इस आधार पर उनका जन्म वर्ष संवत् १५५४ (सन् १४९७) ठहरता है। सामान्यतः बाँदा जिले के राजापुर ग्राम को उनका जन्म-स्थान स्वीकार किया जाता है, किन्तु कुछ विद्वान् सोरों (एटा) को उनका जन्म स्थान मानते हैं।

इनकी माता का नाम हुलसी था। बचपन में ही मातृ-पितृ विहीन इस बालक को नरहरिदास ने पाला, गुरु-मन्त्र दिया, राम-कथा सुनायी और संस्कृत की शिक्षा दी। काशी में शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद दीनबन्धु पाठक की सुन्दरी कन्या रत्नावली से विवाह हुआ। भावुक युवक तुलसी अपनी प्रिया के प्रेम सौन्दर्य में सब कुछ भूल बैठा। विदुषी रत्ना ने 'अस्थि-चर्ममय देह' के प्रति अपने ज्ञानी पति की ऐसी आसक्ति देखकर उनकी भर्त्सना की। रूप का उन्माद एक झटके में उतर गया। ज्ञान-वैराग्य के नेत्र खुल गये। संसार त्याग कर तुलसी राम के हो गये। अनेक तीर्थों में रमते हुए, रामभक्ति में तन्मय 'राम का गुलाम' तुलसी राम चरित को वाणी देने लगा और अपने आराध्य के साथ-साथ स्वयं भी जन-जन की श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र बन गया। संवत् १६८० (सन् १६२२) में यह महामानव देह का जड़-बन्धन त्याग गया—

"संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला तीज शनि, तुलसीतज्यो शरीर।"

तुलसी उन्मत्त प्रेमी, उत्कट विरागी, अनन्य राम-भक्त और लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत महान् सन्त थे। वे दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि और सर्वोपरि एक महा-मानव थे।

रचनाएँ (१) **'रामचरितमानस'**—यह काव्य ग्रन्थ भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, भक्ति और कवित्व का अद्भुत संगम है। यह महाकाव्य तुलसी की अक्षय कीर्ति का वाहक है। (२) **'विनय पत्रिका'** गेय-पद शैली में रचित

भक्ति-रस का अद्वितीय काव्य-ग्रन्थ है। ब्रजभाषा की इस रचना को 'भक्तों के गले का हार' कहा जाता है। (३) '**कवितावली**' में कवित्त-सवैयों में राम-कथा का सरस गायन हुआ है। (४) '**गीतावली**' गेय पदों में लिखित राम-काव्य है, जो कवित्व की दृष्टि से भी तुलसी की उत्कृष्ट कृति है। (५) '**बरवै रामायण**' की रचना बरवै छन्द में हुई है और श्रेष्ठ काव्य-कृति है। इनके अतिरिक्त तुलसी की अन्य रचनाएँ हैं—रामलाल नहछू, रामाज्ञा प्रश्नावली, वैराग्य संदीपनी, दोहावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, हनुमान बाहुक, कृष्ण गीतावली आदि।

कवित्व—तुलसीदास के काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अनुपम उत्कर्ष और उनका मणिकांचन संयोग देखने को मिलता है। तुलसी का प्रायः सम्पूर्ण काव्य राम-काव्य है, केवल 'पार्वती मंगल', 'कृष्ण गीतावली' और 'हनुमान बाहुक' को छोड़कर। राम के अनन्य भक्त तुलसी ने अपनी सारी काव्य-सम्पदा अपने आराध्य के चरणों में ही निछावर कर दी है।

तुलसी की भक्ति दास-भाव की भक्ति है। राम उनके स्वामी हैं। तुलसी 'राम का गुलाम' है। अनन्यता तुलसी की भक्ति का प्राण है। राम के अतिरिक्त अन्य कोई भी उनका आराध्य नहीं है। इसलिए मेघ के प्रति चातक के अनन्य प्रेम को वे भक्ति का आदर्श मानते हैं—

"एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास।"

तुलसी का सम्पूर्ण काव्य और विशेषरूप से 'रामचरितमानस' हिन्दू-धर्म, दर्शन और संस्कृति का महिमामय चित्रण तथा उनकी प्रतिष्ठा का सफल प्रयास है। धर्म के आदर्श स्वरूप, हिन्दू-दर्शन और मर्यादापूर्ण लोक मंगलकारी भारतीय संस्कृति का जैसा विशद और भावमय चित्रण तुलसी ने किया है, वैसा अन्य किसी कवि से नहीं बन पड़ा है। यह सत्य है कि उत्तर भारत में अनेक शताब्दियों तक हिन्दू धर्म, दर्शन और संस्कृति की रक्षा 'रामचरित-मानस' के जन-जन में व्याप्त प्रभाव के कारण ही संभव हो सकी है।

समन्वयकारी लोकनायकत्व

काव्य के माध्यम से तुलसीदास ने समाज को समन्वय का महान् मंगलकारी आदर्श प्रदान किया है। तुलसी का यह आदर्श हमें विविध रूपों और विविध क्षेत्रों में देखने को मिलता है। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की विषमता को दूर कर उसमें समन्वय स्थापित करने की विराट् चेष्टा हमें तुलसी के 'रामचरित मानस' में दिखाई देती है। पारिवारिक जीवन में भाई-भाई, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी आदि के सम्बन्धों का आदर्श रूप देखना हो तो कौशल के राज-परिवार को देखिए। दशरथ द्वारा बहुविवाह करने पर जो स्थिति आई उसका समाधान कराने के लिए तुलसी राम से एक पत्नीव्रत की प्रतिष्ठा कराते हैं। यहाँ समाज के अन्य विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के आदर्श भी उपस्थित हैं। सामाजिक मर्यादा का निर्वाह तुलसी काव्य का महत्त्वपूर्ण सन्देश है।

तुलसी की दृष्टि राजनीतिक जीवन के दोषों की ओर भी गयी है। इसीलिए उन्होंने 'रामराज्य' की राजनीतिक व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट घोषणा की कि—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

अपने समय में प्रचलित हिन्दू धर्म के विविध मत-मतान्तरों का विरोध समाप्त करने के लिए तुलसी ने शिव को निशि-वासर राम-नाम का स्मरण करते हुए दिखाया है और राम के मुख से कहलाया है—

"शिवद्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावा॥"

निश्चय ही यह धार्मिक द्वेष को दूर करने का महान् प्रयास था।

साधना के क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीन मार्ग प्रचलित रहे हैं। इन तीनों का पारस्परिक विरोध मिटाकर तुलसी ने भक्ति को महत्ता देते हुए ज्ञान और कर्म को किसी भी प्रकार हीन नहीं माना है। उनका स्पष्ट कथन है—**'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।'**

इस क्षेत्र में सगुणोपासना और निर्गुणोपासना दोनों को ही तुलसी समान आदर की दृष्टि से देखते हैं—

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥"

साधक के आराध्य का रूप कैसा हो ? इस प्रश्न का भी तुलसी में समन्वयपरक उत्तर ही मिलता है। उनके राम शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों के समन्वित आदर्श हैं।

तुलसी साहित्य में जीव, जगत्, ईश्वर, माया आदि से सम्बन्धित जो दार्शनिक विचार व्यक्त हुए हैं, उनमें भी उनका समवन्यवादी दृष्टिकोण ही प्रतिबिम्बित होता है। वे विविध दार्शनिक मत-मतान्तरों (अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि) के झमेले में नहीं पड़ना चाहते। उनकी उपयुक्त मान्यताओं को ग्रहण करते हैं और अपनी समन्वयवादी दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। ये एकांगी मत उनके लिए भ्रम हैं—

"तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।"

तुलसी ने शास्त्रीय सिद्धान्तों को लोक-जीवन के साथ जोड़ दिया, यह उनका बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। रामकथा के माध्यम से उन्होंने अपने व्यापक अनुभवों को घर-घर में प्रचलित किया। अपने इसी समन्वय के कारण वे लोकनायक के रूप में विख्यात हुए हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनके लोकनायकत्व का आधार उनके समन्वयवादी आदर्श को ही माना है। वे लिखते हैं—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करे। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने भारतीय समाज के सम्मुख जीवन के समस्त क्षेत्रों में समन्वय का महान् आदर्श प्रस्तुत किया जिसके कारण वे युग-युग तक अविस्मरणीय रहेंगे। उनका 'मानस' समन्वय का महाकाव्य है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने तुलसी के समन्वय की विराट् चेष्टा के सम्बन्ध में लिखा है—"लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय—रामचरितमानस आदि से अन्त तक समन्वय का काव्य है।"

तुलसी की इस विराट् समन्वय चेष्टा का ही परिणाम था कि शैव-वैष्णव, ब्राह्मण, शूद्र, भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नी, गृहस्थ-वैरागी, ज्ञानी-

भक्त, अद्वैतवादी-विशिष्टताद्वैतवादी, सिद्धान्त-वेत्ता, सामान्य-जन सभी उनमें अपना आदर्श पाकर उनके भक्त हो गये। उनके आदर्शों के अनुकूल जीवन ढालने में स्वयं को धन्य मानने लगे। आज भी लाखों व्यक्तियों को तुलसी के मानस की चौपाइयाँ कण्ठस्थ हैं और वे जीवन-पथ में भटकते समय उनसे मार्गदर्शन पाते हैं। यह तुलसी के लोकनायक होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। वस्तुतः गौतम के बाद और गाँधी से पूर्व तुलसी भारत के महान् लोकनायक थे।

लोक-मंगल का आदर्श

तुलसी का समस्त कृतित्व लोकमंगल की महान् साधना है। तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि वही काव्य श्रेष्ठ है जो सारे लोक का कल्याण करे, जो सबके लिए गंगा के समान हितकारी हो—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

अपने इसी काव्यादर्श के अनुसार तुलसी ने 'रामचरित मानस', 'विनय-पत्रिका' आदि में लोकमंगल का अमर सन्देश दिया है।

तुलसी मानव धर्म की चर्चा करते हुए लोकहित को परम धर्म और लोक के अहित को सबसे बड़ी नीचता मानते हैं। वे कहते हैं—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥"

इसीलिए तुलसीदास 'विनय-पत्रिका' में राम से यही माँगते हैं कि वे मन-वचन-कर्म से परहित में लीन रह सकें—

'परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-वचन नेम निबहौंगो।"

राम तुलसी के आराध्य हैं। परब्रह्म हैं। वे भी तत्त्वतः मंगल रूप ही हैं। तुलसी उन्हें मंगल के आगार और अमंगल के विनाशक के रूप में ही प्रतिष्ठित करते हैं। उनके राम **"मंगल भवन अमंगलहारी"** हैं। उन्होंने राम को लोक-पीड़क राक्षसों के विरुद्ध शक्ति-प्रदर्शन करके लोक-मंगल का विधान करते हुए दिखाया है। लोकहित की दृष्टि से ही तुलसी ने राम में अनन्त शील की प्रतिष्ठा की है। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप के मूल में भी तुलसीदास की लोक-मंगल की भावना ही काम कर रही है।

तुलसीदास ने मानव-जीवन के समस्त पक्षों पर सूक्ष्म दृष्टि डाली है और हर क्षेत्र में आदर्श की प्रतिष्ठा की है। ये आदर्श वस्तुतः जीवन को

मंगलमय बनाने के पावन उद्देश्य से ही स्थापित किये गये हैं। पति-पत्नी, भाई-भाई, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, राजा-प्रजा आदि में परस्पर कैसे सम्बन्ध होने चाहिए, यह देखना हो तो 'रामचरितमानस' का अवगाहन कीजिए। समाज-व्यवस्था कैसी हो और राजनीति का आदर्श क्या हो, यह भी 'मानस' में स्पष्ट किया गया है। 'रामराज्य' जिसमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसी को नहीं सताते, यही तुलसी की आदर्श राज्य व्यवस्था है—

"दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज्य महँ काहु न व्यापा।"

तुलसी तो यहाँ तक कह देते हैं कि जिसके राज्य में प्रजा दुखी हो, वह राजा नरक का भागी होता है। यहाँ भी राजा की श्रेष्ठता की कसौटी जनता का सुख, लोक का मंगल ही है। काश, आज तुलसी के इस आदर्श वाक्य की ओर हमारे सत्ताधीशों का ध्यान जा पाता!

वस्तुतः तुलसी की सम्पूर्ण काव्य-साधना अमंगल के विनाश और मंगल की प्रतिष्ठा के लिए ही हुई है। 'रामचरितमानस' के राम सत्य, न्याय, शुभ, धर्म अर्थात् मंगल के प्रतीक हैं और रावण असत्य, अन्याय, अशुभ, अधर्म अर्थात् अमंगल का प्रतीक है। रावण पर राम की विजय अमंगल पर मंगल की विजय है। 'रामचरितमानस' वस्तुतः लोक-पीड़ा पर लोक-मंगल का विजय-घोष है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसी की भावुकता' निबन्ध के अन्तर्गत तुलसी को सर्वाधिक भावुक कवि सिद्ध किया है। उनके अनुसार इसका आधार यह है कि राम-कथा के जो सर्वाधिक मार्मिक स्थल हैं, उन्हें तुलसी ने भली प्रकार पहचाना है और उन स्थलों का भावमय चित्रण किया है। 'रामचरितमानस' में राम-वन-गमन, राम-भरत-मिलन, सीता-हरण, शबरी द्वारा आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप आदि अत्यन्त भावपूर्ण स्थल हैं। इन प्रसंगों के पठन-श्रवण के समय आज भी सहृदय पाठक-श्रोता भाव-विभोर हो सजल-नयन हो उठते हैं।

तुलसी प्रधानतः शान्त रस के कवि हैं। किन्तु जनक की पुष्प-वाटिका में राम और सीता के प्रेम-मिलन और विवाहादि अवसरों पर संयोग

शृंगार का तथा सीता-हरण के पश्चात् वियोग शृंगार का बड़ा सहज स्वाभाविक किन्तु मर्यादित चित्रण तुलसी की कविता में हुआ है। लंका-काण्ड में वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि रसों की अभिव्यक्ति हुई है। अनेक स्थलों पर करुण रस हृदय को हिला देता है। तुलसी जैसे गम्भीर कवि ने "विन्ध्य के वासी उदासी....।" वाले छन्द में हास्य रस का भी बहुत सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है। **डॉ० गुलाबराय** के शब्दों में—"ऐसा कोई रस नहीं जिसका उनके काव्य में परिपाक न हुआ हो। ऐसा कोई भाव नहीं जिसकी व्यंजना न हुई हो।"

युग-चेतना को तुलसी-काव्य में सशक्त वाणी मिली है। **बाबू गुलाबराय** का कथन है—"गोस्वामीजी ने अपने समय की जनता के हृदय से हृदय मिलाकर उसके आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की है।" 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' में तुलसी-युग के विविध चित्र बिखरे पड़े हैं।

केवल तुलसीदास ही ऐसे कवि हैं, जिन्होने अपने युग की दोनों भाषाओं (अवधी और ब्रज) में समान अधिकार से श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। 'रामचरितमानस' अवधी भाषा का काव्य-रत्न है, तो 'विनय-पत्रिका', 'कवितावली', 'गीतावली' आदि में ब्रजभाषा की सुषमा बिखरी हुई है। कहीं-कहीं लोक-प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों के सफल प्रयोग से तुलसी की भाषा की सजीवता बढ़ गयी है। भाषा में कसाव है, प्रांजलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "उनकी भाषा की सी सफाई और किसी कवि में नहीं है। गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यन्त प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है, एक भी शब्द फालतू नहीं है।"

'रामचरितमानस' प्रबन्ध शैली में रचित हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। 'विनय-पत्रिका' गेय-पदों की मुक्तक-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'दोहावली' में कबीर की 'साखी-शैली' दिखाई देती है। तुलसी के कथावृत्तों में वर्णनात्मक शैली, बीच-बीच में उपदेशात्मक-शैली और स्थल-स्थल पर सूक्ति-शैली के दर्शन होते हैं। इस प्रकार, तुलसी ने विविध शैलियाँ अपनाकर इस क्षेत्र में अपनी कुशलता और सामर्थ्य का परिचय दिया है।

तुलसी ने अलंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया है। वे सहज रूप से भाव, वस्तु, गुण, कर्म के सौन्दर्य में वृद्धि करते हुए अति

स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। उपमा, रूपक, सन्देह, श्लेष, उत्प्रेक्षा, असंगति, तद्गुण-अतद्गुण आदि प्रायः समस्त अलंकार कहीं-न-कहीं तुलसी काव्य में आ गये हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि अलंकार की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाये जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाये हुए नहीं।"

छन्द-विधान की दृष्टि से तुलसी की साहित्य-सम्पदा अति समृद्धिशाली है। अपने युग तक प्रचलित सभी छन्दों में तुलसी ने कविता लिखी है। दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय, बरवै, राग-रागनियों में बँधे गेय पद, लोक-गीतों में प्रयुक्त छन्द, संस्कृत के वर्णवृत्त आदि सभी का उनके काव्य में सफल प्रयोग हुआ है।

तुलसी काव्य की विशेषताओं पर दृष्टिपात करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सभी दृष्टियों से तुलसी ने मानव-जीवन का सर्वांगीण चित्रण किया है। भाषा और भाव का समन्वय, सरस छन्द योजना, युगीन जन-चेतना और संस्कृति का चित्रण उनके काव्य में द्रष्टव्य है। भाषाओं के विविध रूपों का सार्थक-प्रयोग, नव रसों की समरूप प्रतिष्ठा आदि विशेषताओं ने तुलसी की कविता को अमर कर दिया है। हिन्दी साहित्य उनकी काव्य-प्रतिभा के अक्षय प्रकाश से महिमा मण्डित है।

५. केशवदास

कुल-परम्परा से ही संस्कृत के गहन अध्ययन और पाण्डित्य की विरासत लेकर उत्पन्न होने वाले रसिक प्रवृत्ति के दरबारी कवि केशव भक्ति और रीतिकाल के मिलन बिन्दु पर खड़े हैं। यही कारण है कि उनकी कविता पाण्डित्य, आलंकारिकता, चमत्कार आदि के प्रदर्शन से परिपूर्ण श्रृंगारिक कविता है। भक्ति का उस पर झीना आवरण पड़ा है।

जीवन-वृत्त—मतभेद होते हुए भी विद्वानों द्वारा, सामान्य रूप से, सम्वत् १६१२ (सन् १५५५ ई०) को केशवदास का जन्म-वर्ष स्वीकार किया जाता है। बुन्देलखण्ड के ओरछा नगर में जन्मे केशव पं० काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे। वंश-परम्परा से इन्हें संस्कृत का गहन पाण्डित्य प्राप्त हुआ था। ऐसे संस्कृतज्ञ ने जन-भाषा में कविता करते हुए बड़ी हीनता का अनुभव किया था और अपनी व्यथा इन शब्दों में प्रकट की थी—

"भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास ॥"

ओरछा नरेश महाराज इन्द्रजीतसिंह से कवि केशव को २१ ग्राम और गुरु तथा मन्त्री के रूप में सम्मान मिला था। संवत् १६७४ विक्रमी में हिन्दी कविता के इस प्रकाण्ड आचार्य ने अपना नश्वर शरीर छोड़ दिया। कहते हैं इन्हें प्रेत-योनि प्राप्त हुई और गोस्वामी तुलसीदास ने उससे उनका उद्धार किया।

रचनाएँ—(१) **'रामचन्द्रिका'** वाल्मीकि रामायण के आधार पर रचित राम-काव्य परम्परा का महाकाव्य है। केशव की कीर्ति का आधार यह ग्रन्थ सरस कम, चमत्कारपूर्ण अधिक है। (२) **'रसिक-प्रिया'** नामक रीति-ग्रन्थ में रसों का (प्रधानतः शृंगार का) सोदाहरण विवेचन हुआ है। (३) **'कवि-प्रिया'** भी लक्षण ग्रन्थ ही है, जिसमें अलंकार, काव्य के गुण-दोष आदि पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। (४) **'विज्ञान गीता'** में केशव के दार्शनिक विचारों को वाणी मिली है। (५) **'वीरसिंह देव चरित'** में राजा वीरसिंह, तथा (६) **'जहाँगीर जस चद्रिका'** में मुगल सम्राट् जहाँगीर की प्रशस्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त केशव के 'नख-शिख,' 'रतन बावनी,' 'रामालंकृत मंजरी' आदि ग्रन्थों के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

कवित्व—केशवदास ने हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की रचना करके रीति-काव्य परम्परा का श्रीगणेश किया। निस्सन्देह, इस दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न हैं, उन्होंने एक नवीन युग का सूत्रपात किया था।

केशव की 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है, पर वह आलम्बन या उद्दीपन रूप में न होकर प्रायः आलंकारिक रूप में ही है। पंचवटी का वर्णन करते हुए वे "सब जाति फटी दुःख की दुपटी कपटी न रहे जहाँ एक घटी····।" आदि कहकर अपना अद्भुत भाषाधिकार, कल्पना का चमत्कार और अलंकारों की प्रदर्शनी प्रस्तुत करने लगते हैं। केशव का प्रकृति-चित्रण सहज-सुन्दर और भावमय न होकर आलंकारिक और चमत्कार-प्रधान है।

क्लिष्टता और हृदयहीनता—आचार्य केशवदास की कविता पर उसकी क्लिष्टता को लेकर साहित्यकारों ने विविध प्रकार के आक्षेप किये हैं। यह उक्ति प्रसिद्ध है—

'कवि को देन न चहै विदाई। पूछो केशव की कविताई।'

अर्थात् यदि किसी कवि को सम्मानपूर्वक विदा न देना चाहो, तो उससे केशव की कविता पूछ लो। क्लिष्टता के कारण वह उसे बता ही नहीं पायेगा।

कुछ आलोचकों ने तो केशव को **'कठिन काव्य का प्रेत'** का प्रमाण-पत्र दे दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था.........वे संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे।"

बाबू श्यामसुन्दर दास का कथन है कि "उनकी (केशव की) रुचि क्लिष्ट कल्पना की ओर थी।....करुण से करुण दृश्य केशव के हृदय को पिघला नहीं सका।"

इस प्रकार, केशव की कविता पर क्लिष्टता, हृदयहीनता, नीरसता, पाण्डित्य और चमत्कार-प्रदर्शन के आरोप समय-समय पर लगाये जाते रहे हैं।

इन समस्त आरोपों का खण्डन प्रो० जगन्नाथ तिवारी ने किया है और केशव को सहृदय कवि सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—"हम यह निर्विवाद कह सकते हैं कि केशव में पर्याप्त भावुकता थी और रस-व्यंजना में उन्हें पूरी सफलता मिली है। उन्हें हृदयहीन कहना, उनके प्रति घोर अन्याय करना है और हृदयहीनता का परिचय देना है।"

वस्तुतः केशव ने अपने व्यापक ज्ञान और काव्य-कौशल का परिचय देने की लालसा में प्रायः अपनी कविता में अनेकानेक क्लिष्ट कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। अयोध्या के वर्णन में सूर्योदय के मोहक दृश्य में, पंचवटी के प्रकृति-वर्णन में उनकी कठिन कल्पना के कारण सरसता और सुन्दरता नष्ट हो गयी है। सहृदय कवि, मार्मिक स्थलों को पहचान कर ऐसा सरस वर्णन करते हैं कि पाठक की आखें गीली हो जाती हैं। पर केशव ऐसे स्थलों पर भी पाण्डित्य-प्रदर्शन में उलझे रहे हैं। राम और सीता का विरह-वर्णन इसका प्रमाण है। वस्तु-वर्णन में और भाव-व्यंजना में भी केवल सहज-सौन्दर्य का चित्रण न करके प्रायः चमत्कार-प्रदर्शन ही करते रहे हैं। उदाहरण के लिए—

"सब जाति फटी दुःख की दुपटी, कपटी न रहें जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीच घटी हूँ घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी।"

तथा,

"पाण्डव की प्रतिमा सम लेखौ ।
अर्जुन भीम महामति देखौ ।"

केशव ने प्राय: क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो यह इतनी कठिन हो गयी है कि साधारण पाठक अर्थ-ग्रहण में असमर्थ हो जाता है। देखिए—

"अनन्ता सबै सर्वदा शस्य युक्ता,
समुद्रावधिः सप्त ईती विमुक्ता ।"

केशव ने अपने पाण्डित्य और आचार्यत्व का प्रदर्शन करने के लिए नाना प्रकार के छन्दों में काव्य-रचना की है। इसीलिए कुछ आलोचक उनकी 'रामचन्द्रिका' को 'छन्दों का अजायबघर' कहते हैं। अलंकारों की भरमार ने तो केशव की कविता-कामिनी के भाव-सौन्दर्य को अपने भार से बुरी तरह दबा दिया है।

इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि केशव की कविता में सरसता है ही नहीं। जनक, दशरथ, भरत, लक्ष्मण-शक्ति के समय राम आदि की मनोदशा का केशव ने भावपूर्ण चित्रण किया है। उनकी 'रसिक-प्रिया' और 'कवि प्रिया' में भी सरस चित्र देखने को मिल जाते है। प्रो० जगन्नाथ तिवारी ने ऐसे स्थलों पर विशेष प्रकाश डाला है। वास्तव में केशव नितान्त नीरस और हृदयहीन कवि तो नहीं हैं। हाँ, पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति और कविता के सम्बन्ध में चमत्कारवादी दृष्टिकोण रखने के कारण उनकी कविता कुछ असहज और कठिन हो गयी है, इसलिए उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कह दिया गया है। वैसे यह आक्षेप अपने आप में कुछ अधिक कठोर है।

संवाद-सौष्ठव—केशवदास के काव्य पर विविध आरोप लगाने वाले समीक्षक भी यह स्वीकार करते हैं कि 'रामचन्द्रिका' की संवाद-योजना अत्यन्त उत्कृष्ट है। किसी भी महाकाव्य की अपेक्षा 'रामचन्द्रिका' में संवाद अधिक हैं और उनमें उत्कृष्ट संवादों की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। 'रामचन्द्रिका' के संवाद कथा को गति देने, पात्रों के चरित्र की अभिव्यंजना करने और काव्य में रोचकता एवं सरसता लाने में पूर्ण सफल हैं।

'रामचन्द्रिका' में नाना स्थलों पर संवादों की जो योजना है, उसमें से रावण-वाणासुर-संवाद, राम-परशुराम-संवाद और रावण, अंगद-संवाद अपेक्षाकृत बड़े और अति सुन्दर बन पड़े हैं। छोटे संवादों में राम-सूर्पणखा, सीता-रावण और सीता-हनुमान-संवाद अत्यन्त रोचक एवं प्रभावशाली बन पड़े हैं।

पात्रानुकूलता केशव के संवादों की प्रमुख विशेषता है। जनकपुर में धनुष तोड़ने के लिए रंगशाला में प्रवेश करते ही रावण कहता है—

"शंभु कोदंड दै, राजपुत्री कितै।
टूक द्वै तीन कै, जाहुं लंकाहि लै।"

तो उसके अहंहकार और बल-दर्प की अभिव्यंजना ही होती है, जो उस पात्र के पूर्णत: अनुरूप है।

प्रत्युत्पन्न-मति के दर्शन तो केशव के संवादों में सर्वत्र होते हैं। उनके पात्र बात में से बात निकालकर जो हाजिर-जबाबी दिखाते हैं, वह अद्भुत है। अंगद-रावण-संवाद के इस अंश में यह विशेषता देखिए—

(रावण)—"राम को काम कहा ?"
(अंगद)—"रिपुजीतहि।"
(रावण)—"कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?"
(अंगद)—"बालि बली"
(रावण)—"छल सों"
(अंगद)—"भृगुनंदन गर्व हर्‌यो"
(रावण)—द्विज दीन महा।"
(अंगद)—"दीन सु क्यों ? छिति छत्र हर्‌यो बिन प्रानन हैहयराज कियो।"
(रावण)—"हैहय कौन ?"
(अंगद)—"बहै; बिसर्‌यो ? जिन खेलत ही तोहि बाँधि लियो।"

'रामचन्द्रिका' में प्रस्तुत केशव के संवादों में व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य के कारण अद्वितीय सचोटता आ गयी है। इन व्यंग्य-प्रहारों से श्रोता तिलमिला जाता है। उदाहरणार्थ—

(रावण)—"कौन के सुत ?"
(अंगद)—"बालि के।"

(रावण)—"वह कौन बालि ?"

(अंगद)—"न जानिए ?

काँख चाँपि तुम्हें जु सागर सात न्हात बखानिए।"

केशव के संवादों में नाटकीयता सर्वत्र विद्यमान है। छोटे-छोटे कथनों में तुर्की-ब-तुर्की उत्तर-प्रत्युत्तर, पात्रों के मनोभावों की सहज व्यंजना, चुटीलापन, रोचकता, स्फूर्ति, सरसता आदि से संयुक्त इन संवादों में अद्भुत अभिनेयता है। साथ ही इन संवादों में कूटनीतिक चातुर्य, शिष्टाचार और उत्कृष्ट-ध्वनि-सौन्दर्य के दर्शन भी होते हैं। क्लिष्ट भाषा के लिए बदनाम केशव के संवादों की भाषा सरल-सुबोध बोलचाल की भाषा है जिसमें अद्भुत प्रवाह है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने इन संवादों की भाषा को और भी जीवन्त बना दिया है।

वस्तुतः 'रामचन्द्रिका' का सर्वस्व उसका संवाद-सौष्ठव ही है। इन संवादों में काव्यात्मक और नाटकीय सौन्दर्य का चरम प्रकर्ष दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "रामचन्द्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में।" निश्चय ही, काव्य में संवाद-योजना की दृष्टि से केशव अद्वितीय हैं।

केशव अलंकारवादी कवि थे। उनका मत था—"भूषन बिनु न विराजई कविता-बनिता मित्त।' अर्थात् कविता-कामिनी बिना आभूषण (अलंकार) के शोभा नहीं पाती है। अतः वे रस के स्थान पर अलंकार पर बल देते हैं। फलतः उनकी कविता का रस-पक्ष हल्का रह गया। वैसे केशव के काव्य में वीर, शृंगार और शान्त रसों की योजना प्रधानतः हुई है। अन्य रस भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, पर रससिद्धि कवि के काव्य में जो तन्मयता और भावमयता मिलती है उसका केशव में प्रायः अभाव ही है।

केशव की काव्य-भाषा ब्रज है, जिसमें यत्र-तत्र बुन्देलखण्डी और अवधी के प्रचलित शब्दों का तथा संस्कृत शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है। सामान्यतः केशव की भाषा पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण कठिन और दुरूह हो गयी है। किन्तु विषय और प्रसंग के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने की उनमें अद्भुत क्षमता है। कोमल भावों, सौन्दर्य-वर्णन आदि के समय उनकी भाषा में सहज कोमलता और माधुर्य आ गया है। वीर और रौद्र रसों की अभिव्यक्ति के

समय उनकी भाषा कठोर ध्वनि वाली हो गयी है। उदाहरणार्थ—धनुष-यज्ञ के लिए निर्मित मंच की शोभा वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"सोभित मंचन की अबली गजदंतमयी छवि उज्जवल छाई।"

किन्तु जब राम धनुष तोड़ते हैं, तो उसकी टंकोर की ध्वनि का प्रभाव व्यक्त करने के लिए केशव वैसी ही 'टंकोरमयी' भाषा का प्रयोग करते हैं, देखिये—

"प्रथम टंकोर झुकि झारि संसार मद
चण्ड कोदण्ड रह्यो मंडि नव खण्ड को।
चलि अचला अचल घालि दिगपाल बल
पालि ऋषिराज के बचन परचंड को।"

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि केशव प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग करने में पूर्ण सक्षम हैं। उनके संवादों में तो भाषा का यह प्रसंगानुकूल सौष्ठव विशेष रूप से देखते ही बनता है। पर केशव चमत्कार-प्रदर्शन के मोह में पड़कर अधिकांश स्थलों पर भाषा की इस स्वाभाविकता की उपेक्षा कर गये हैं। यही कारण है कि उनकी कविता में भावों और रसों की सुन्दर व्यंजना नहीं हो सकी है। किन्तु वे प्रसंगानुसार-भाषा प्रयोग कर सकते थे, इसका प्रमाण अनेक स्थलों से मिल जाता है।

केशवदास की काव्य-शैली संस्कृत आचार्यों वाली शैली है, सहृदय कवियों की भावात्मक शैली नहीं है। अतः शैली में दुरूहता आ गयी है। **लाला भगवानदीन** के शब्दों में, "........इनमें यह विलक्षणता है कि एक तो पाण्डित्य ऊँचा, दूसरे उससे अधिक ऊँची पाण्डित्य-प्रदर्शन की रुचि। ऐसी रुचि ने इनकी कविता को बहुत कठोर कर दिया है। प्रसाद और माधुर्य को मरोड़ डाला है।"

यदि किसी को विविध अलंकारों की अद्‌भुत प्रदर्शनी देखनी हो तो उसे केशव की कविता पढ़ लेनी चाहिए। केशव की यह मान्यता थी कि कितनी भी श्रेष्ठ कविता हो, बिना अलंकारों के वह शोभा पाती ही नहीं है। फलतः जबरन हर स्थान पर अलंकार लाने के प्रयास में केशव ने अपनी कविता के सहज सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। भला ऐसे आभूषणों का भी क्या अर्थ है जिनके बोझ से सुकुमारी सुन्दरी के प्राण ही निकल जाएँ। केशव के अलंकार भी कविता-सुन्दरी पर ऐसे ही बोझ बन गये हैं।

केशव तो आचार्य थे। पिंगल (छन्दशास्त्र) पर उनका अधिकार था और साथ ही उस अधिकार को जताने की बलवती इच्छा भी थी। अतः उन्होंने हिन्दी के कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, नाराच, आदि विविध छन्दों की योजना की है। एकाक्षरी से लेकर अष्टाक्षरी छन्दों के भी सफल कलात्मक प्रयोग केशव ने किये हैं। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत के वर्ण-वृत्तादि छन्दों में भी इन्होंने काव्य की रचना की है। 'रामचन्द्रिका' छन्द-परिवर्तन की दृष्टि से अपने प्रकार का एक ही ग्रन्थ है। इसीलिए कुछ आलोचक इसे 'छन्दों का अजायबघर' कहकर पुकारते हैं।

केशव ने काव्य की रचना ही चमत्कार-प्रदर्शन के उद्देश्य से की थी। यही कारण है कि भाषा, अलंकार, छन्द आदि सभी दृष्टियों से उनकी कविता चमत्कार की कविता बन गयी है। यही नहीं भावों की कल्पना में भी चमत्कार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। चमत्कारपूर्ण काव्य-कला की दृष्टि से केशव हिन्दी के श्रेष्ठ कवि हैं।

आचार्य केशव का प्रधान-महत्त्व इस बात में है कि हिन्दी कविता को भक्ति से हटाकर वे उसे रीति की धारा में प्रवाहित करने में समर्थ हुए, काव्यांगों का विशद् विवेचन करने वाले वे हिन्दी के प्रथम आचार्य कवि हैं। यहीं से कवियों का ध्यान कविता के कला-पक्ष के उत्कर्ष पर केन्द्रित हुआ। केशव का मूल्यांकन करते हुए **डॉ० गुलाबराय** ने लिखा है—"यद्यपि उनका आचार्य रूप प्रधान है तथापि उनका कवि रूप भी उपेक्षा के योग्य नहीं है। वे यदि सूर-चन्द्र की पदवी नहीं पाते तो न सही किन्तु उडुगन प्रमाणित होकर साहित्य-गगन के ज्योति-पिण्डों में अवश्य स्थान पाते हैं।" **युग-प्रवर्तक** के रूप में केशव की महत्ता स्वीकार करते हुए **डॉ० श्यामसुन्दर दास** कहते हैं कि "रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशव का स्थान हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण है।" निस्संदेह, केशव ऐसे अद्भुत कवि हैं कि उनसे पूर्व या पश्चात् उन जैसा अन्य कोई कवि हिन्दी में नहीं हुआ।

६. बिहारीलाल

बिहारीलाल हिन्दी के ऐसे अद्वितीय कवि हैं, जिनमें दोहे की नन्हीं-सी गागर में भाव और अर्थ का लहराता हुआ अथाह सागर भर देने की अद्भुत क्षमता है। बिहारी की कविता में शृंगार के मादक चित्र हैं, कल्पना का

मोहक सौन्दर्य है, भावों की अथाह गहराई है, अलंकारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। वे रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय श्रेष्ठ कवि हैं।

जीवन-वृत्त—कविवर बिहारीलाल के निम्नलिखित दोहे उनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालते हैं—

> **"जन्म ग्वालियर जानिए, खण्ड बुन्देले-बाल।**
> **तरुणाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल।**
> **प्रकट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।**
> **मेरौ हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ।"**

बिहारी का जन्म ग्वालियर के निकट वसुवा गोविन्दपुर नामक ग्राम में सं० १६६० वि० में हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था। बिहारी की युवावस्था उनकी ससुराल मथुरा में बीती थी। वहाँ निरादर अनुभव करने पर वे आगरा आ गये। बाद में जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ पहुँचे। कहा जाता है कि जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ विहार करने में मग्न थे। वे राजकाज सब छोड़ बैठे थे। बिहारी ने एक दोहा लिखकर राजा के पास भिजवाया। राजा जयसिंह की आँख खुल गयीं और उन्होंने बिहारी को सम्मान के साथ अपने दरबार की शोभा बना लिया। वह दोहा है—

> **"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।**
> **अली कली ही सौं बिन्ध्यो, आगे कौन हवाल॥"**

राजा जयसिंह की प्रेरणा और प्रोत्साहन पर बिहारी ने वहाँ रहकर सुन्दर-सुन्दर दोहों की रचना की। जयसिंह उन्हें हर दोहे पर एक अशर्फी पुरस्कार-स्वरूप देते थे। इस शृंगारी कवि का मन अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद भक्ति और वैराग्य की ओर मुड़ गया। संवत् १७२० वि० में बिहारी की मृत्यु हो गयी।

रचनाएँ—उनकी एक ही प्रसिद्ध काव्य-कृति है **'बिहारी सतसई'**। इसमें राजा जयसिंह के दरबार में रहकर लिखे गये बिहारी के ७१९ दोहे संग्रहीत हैं। राज-दरबार में रहकर बिहारी ने वैभव-विलास देखा था। उनमें कला की सूक्ष्म पकड़ और वाणी का कौशल प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी दरबारी वातावरण के फलस्वरूप ही आयी थी। ये सारी बातें उनके

दोहों में देखी जा सकती हैं। 'बिहारी सतसई' में नीति, भक्ति और शृंगार सम्बन्धी दोहे हैं। शृंगार के दोहों की अधिकता के कारण वे मुख्यत: शृंगार के कवि ही माने जाते हैं।

सतसई के अतिरिक्त ११६ **कवित्तों का एक संग्रह** भी डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने खोजा है, जिसे बिहारीलाल द्वारा रचित बताया जाता है। बिहारी की अक्षय कीर्ति का आधार उनकी 'सतसई' ही है। 'रामचरितमानस' के बाद यह हिन्दी काव्य-ग्रन्थों में सर्वाधिक लोकप्रिय है और इसकी ही सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

कवित्व—'बिहारी सतसई' में भक्ति, नीति और शृंगार की त्रिधाराओं का अद्भुत संगम हुआ है। इसमें शृंगार की धारा ही प्रधान है। फिर भी भक्ति विषयक अनेक दोहों में भाव तन्मयता और वैराग्य भावना की अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। नीति-सम्बन्धी दोहे बिहारी के ठोस अनुभवों के आधार पर रचित होने से बड़े यथार्थ और प्रभावशाली बन पड़े हैं। तीनों के उदाहरण देखिए—

भक्ति—'सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसो, सदा बिहारीलाल॥'

नीति—'बढ़तु-बढ़तु सम्पति सलिलु, मन-सरोज बढ़ि जाइ।
घटतु-घटतु पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥'

शृंगार—'कहत-नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात॥'

बिहारी मूलत: शृंगारी कवि हैं। प्रेम तथा सौन्दर्य के सहज स्वाभाविक मनोरम चित्र अंकित करने में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कथनानुसार, "प्रेम के भीतर उन्होंने सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये और वे भी इन्हीं सात सौ दोहों में। यह उनकी एक विशेषता ही है।"

बिहारी की एक प्रमुख विशेषता है उत्कृष्ट अनुभाव-योजना अर्थात् पात्रों की चेष्टाओं का वर्णन। किसी भाव में डूबे हुए व्यक्ति द्वारा कुछ ऐसी चेष्टाएँ की जाती हैं, जो उसके भावों को व्यक्त करती हैं। जैसे प्रेम में रोमांच होना, एकटक देखते रहना, बार-बार तिरछी दृष्टि से प्रिय को

निहारना, मुस्कराना आदि । बिहारी ने इन सभी चेष्टाओं (अनुभावों) की सुन्दर योजना अपनी 'सतसई' में की है । वे नायक-नायिका के हृदयगत भावों को उनकी चेष्टाओं के माध्यम से व्यक्त करने में बहुत सफल हुए हैं । अब देखिए, गोपिका 'बतरस लालच' में कृष्ण की वंशी छिपाकर कैसी चुहल कर रही है—

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ।।'

प्रकृति के रम्य चित्र भी 'बिहारी सतसई' में मिल जाते हैं । कहीं यह वर्णन आलम्बन रूप में हुआ है, तो कहीं उद्दीपन रूप में । यत्र-तत्र आलंकारिक रूप में भी बिहारी ने प्रकृति-वर्णन किया है । ऋतु-विशेष का समग्र प्रभाव छोटे से दोहे में दर्शाने में बिहारी कुशल हैं । देखिए प्रचण्ड ग्रीष्म का यह चित्र—

"बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँह ।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह ।।"

बिहारीलाल बहुज्ञ थे । उनको विषयों का व्यापक और गहन ज्ञान था । उन्होंने अपनी इस बहुज्ञता (विविध विषयों का ज्ञान) का परिचय अनेक दोहों में दिया हैं । उदाहरणार्थ, निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष का यह सिद्धान्त भी प्रस्तुत कर दिया गया है—

"सनि कज्जल, चख झख लगन, उपज्यो सुदिन सनेह ।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस सब देह ।।"

रीतिकालीन काव्य में प्रायः सरसता और भाव-सौन्दर्य का अभाव है । किन्तु बिहारी के दोहे रस और भावमयता से परिपूर्ण हैं । इसी सरसता को लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"इसके (बिहारी सतसई के) दोहे क्या हैं, रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं, जो मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देती हैं ।"

'बिहारी सतसई' में शृंगार रस का ही प्राधान्य है, कहीं-कहीं शान्त, अद्भुत, हास्य के भी उदाहरण मिल जाते हैं । शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का निरूपण करने में बिहारी का मन रमा है, पर संयोग के जैसे स्वाभाविक, सजीव और भावात्मक चित्र बिहारी ने अंकित किये हैं, वैसी सहज-सुन्दरता वियोग-चित्रण में नहीं आ सकी है ।

बिहारी ने ब्रजभाषा में कविता की है। उनकी भाषा में भावों को व्यक्त करने की अद्‌भुत सामर्थ्य है। जहाँ-तहाँ बुन्देलखण्डी, अरबी, फारसी आदि के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। बिहारी का शब्द-चयन बेजोड़ है। एक-एक शब्द माला के मोतियों की भाँति जड़ा है, जिसे हटाते ही सम्पूर्ण माला (दोहे) का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संक्षिप्तता, माधुर्य, सरसता, सुबोधता आदि गुणों से परिपूर्ण बिहारी की भाषा उत्कृष्ट ब्रजभाषा है।

डॉ० गुलाबराय के शब्दों में, "बिहारी की भाषा बहुत मनोहर है।— जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"

बिहारी का छन्द केवल दो पंक्तियों का दोहा है। पर इस छोटे से दोहे में अधिकाधिक भाव-सौन्दर्य और गहन-गम्भीर अर्थ भरने में बिहारी ने कमाल कर दिया है। इसीलिए कहा जाता है—

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥"

वास्तव में दोहा छन्द का जितना सफल प्रयोग बिहारी ने किया है उतना अन्य किसी कवि ने नहीं किया। उनके दोहे बेजोड़ हैं।

बिहारी रीतिकालीन कवि हैं, अतः उनके काव्य में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। पर उनकी विशेषता यह है कि अलंकारों को वे इस ढंग से उपयोग में लाये हैं कि भाव-सौन्दर्य और अर्थ की व्यंजना में एक विशेष मनोरमता और व्यापकता आ गयी है। उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, रूपक आदि का बहुलता से प्रयोग हुआ है। बिहारी ने अलंकारों को भावों का सौन्दर्य बढ़ाने वाला माना है। इसी लिए भाव-सौन्दर्य के साथ सुन्दर अलंकरण ने सोने में सुगन्ध का काम किया है।

बिहारी रीतिकाल के मूर्द्धन्य कवि हैं। भाव और कला का निखार, कल्पना का विस्तार, अलंकारों का मोहक सौन्दर्य और वाणी की विदग्धता जैसी बिहारी के दोहों में विद्यमान है, वैसी विरले कवियों में ही मिलती है। उनका एक-एक दोहा उर्दू के चुभते हुए शेर की भाँति हमें गद्‌गद् कर देता है। यही कारण है कि सभी समीक्षकों ने बिहारी-काव्य की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की है। कुछ विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं—

"शृंगार रस ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक रत्न माना जाता है।" —**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

"यदि सूर-सूर तुलसी शशि उडुगन केशवदास हैं, तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही उनका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है। फिर उसकी वृष्टि से कवि कोकिल कुहुकने, मन-मयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चहकने लगते हैं।" —**राधाकृष्ण दास**

मुक्तक रचना करने वाले कवि को थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहना होता है। इस कला में जो जितना निपुण होगा, वह उतना ही सफल मुक्तककार होगा। इसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो शर्तें प्रस्तुत की हैं—कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति। वे लिखते हैं—"जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति जितनी अधिक होगी, मुक्तक-रचना में वह उतना ही सफल होगा।" बिहारी ने भी कल्पना की समाहार-शक्ति से भाव और अर्थ-सौन्दर्य के सागर को समेटा है तथा भाषा की समास-शक्ति के बल पर उसे दोहे की गागर में भरने में सफलता प्राप्त की है। वे सफल मुक्तककार हैं।

बिहारी में कल्पना की समाहार-शक्ति—बिहारी मूलतः शृंगार के कवि हैं, अतः प्रेम की जितनी भी स्थितियाँ सम्भव हो सकती हैं, वे सब 'बिहारी सतसई' में हैं। जितने भी विविध अवसर नायक-नायिका के मिलने के हो सकते हैं, नयनों में जिस-जिस प्रकार जो-जो बातें हो सकती हैं, भिन्न-भिन्न मुद्राओं में जो भी सौन्दर्य हो सकता है, विरह की स्थिति में जैसी टीस, कराह वेदना, तड़प आदि सम्भव हैं—वे सभी बातें बिहारी की कल्पना में सिमिट आई हैं।

इनके साथ ही उन्होंने अपनी कल्पना शक्ति के बल पर ज्योतिष् सिद्धान्तों, वैद्यक शास्त्र की मान्यताओं, गणित के नियमों, राजनीति के छल-छन्दों, व्यावहारिक जीवन के अनेक अनुभवों आदि को भी इस प्रकार समेट लिया है कि उनकी दृष्टि की व्यापकता और सूक्ष्मता दोनों पर ही आश्चर्य होता है। कुछ उदाहरणों से बिहारी की सर्व-समाहारी (सब कुछ समेट लेने वाली) कल्पना की झलक पायी जा सकती है।

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सब बात॥"

यहाँ नायक-नायिका के पारस्परिक नयन-मिलन में बिहारी ने अनेक सूक्ष्म मनोभावों की सुन्दर व्यंजना की है। अभिलाषा, गर्व, हर्ष, खीझ, लज्जा आदि भावों को बिहारी ने एक साथ खूबसूरती से समेट लिया है।

और यह देखिये नारी-सौन्दर्य में ज्योतिष् के सिद्धान्त की विशद् कल्पना—

"मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगतु॥"

इसी भाँति 'कहत सबै बेंदी दिये.........' में गणित के सिद्धान्त, 'जरी विषम जुर जाइए, आइ सुदरसन देहु' में औषध-शास्त्र, 'जा तन की झाईं परै, श्याम हरित दुति होइ' में रंगों के मिश्रण आदि के अनेक उदाहरण ऐसे हैं जो विहारी की उर्वर और व्यापक कल्पना के परिचायक हैं।

बिहारी की भाषा की समास-शक्ति—कल्पना उड़ान भरे पर उसे शब्दों में समेटा न जा सके तो मुक्तक काव्य बिखर जाता है। बिहारी की भाषा में संक्षिप्त रूप में सब कुछ कहं देने की अद्भुत शक्ति है। उपयुक्त शब्द चयन, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों तथा श्लेष, वक्रोक्ति आदि अलंकारों के माध्यम से विहारी ने अपनी भाषा में यह शक्ति उत्पन्न की है।

ऊपर दिये हुए, 'कहत, नटत, रीझत, खिझत' वाले दोहे में बिहारी का शब्द-चयन अनूठा है। **लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के** प्रयोग से भी बिहारी ने अपनी भाषा को विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। जैसे—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत, चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हियैं, दई, नई, यह रीति।"

बाबू गुलाबराय के अनुसार, 'इस दोहे में सभी क्रियाएँ सूत के रूपक में अनुस्यूत हैं और उनमें लक्षणा शक्ति का भी सुन्दर उपयोग हुआ है।'

इसी प्रकार श्लेष-वक्रोक्ति अन्योक्ति आदि के माध्यम से भी बिहारी ने कम शब्दों में अधिकाधिक अर्थ भरने में सफलता प्राप्त की है। 'चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर। को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।' में 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' के श्लेष से जो अर्थों के पर्त खुलते हैं,

वे बिहारी की इस कला के श्रेष्ठ प्रमाण हैं। तभी तो गाबू गुलाबराय ने कहा है—"बिहारी की भाषा का सबसे मुख्य गुण समास गुण है।"

गागर बहुत छोटी होती है और सागर अनन्त विस्तार और गहराई वाला होता है। बिहारी ने गागर जैसे छोटे छन्द 'दोहा' को अपनाया है और उनमें व्यापक अर्थ रूपी सागर को बड़ी कुशलता से भर दिया है। कल्पना की समाहार शक्ति के बल पर बिहारी ने सागर के समान विस्तृत अर्थ की योजना की है और भाषा की समास शक्ति के बल पर कम-से-कम शब्दों में समेटकर दोहे की गागर में भर दिया है। इस कला में बिहारी जैसा निपुण अन्य कोई कवि नहीं है।

स्पष्ट है कि बिहारी के छोटे-छोटे दोहों में कल्पना का अनन्त विस्तार है, पद लालित्य और अर्थ गौरव है, अलंकारों का मधुर-मोहक सौन्दर्य है, वाणी की विदग्धता है। एक-एक दोहा इतनी भाव-राशि और अर्थ-बोध समेटे हुए है, जितनी अन्य कवि पूरे-पूरे पदों और बड़े छन्दों में भी नहीं भर सके हैं। सहृदयजनों के लिए तो 'बिहारी सतसई' अक्षर काम-धेनु ही है, जो अपने मधुर रस-क्षीर से छकाकर उन्हें पूर्ण तृप्त कर देती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—'इसका (बिहारी सतसई का) एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक रत्न माना जाता है।

७. घनानन्द

घनानन्द रीतिकाल की रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा के अन्यतम कवि हैं। प्रेमोन्माद में डूबे घनानन्द का काव्य प्रेम की पीर की अकथ कथा है। हिन्दी-काव्य-जगत् में प्रेम की गहन अनुभूति और विरह-व्यथा के गायकों में घनानन्द शीर्षस्थ हैं, क्योंकि उनकी प्रेम-तन्मयता और वियोग-वेदना उनका अपना भोगा हुआ यथार्थ है।

जीवन-वृत्त—घनानन्द के जन्म और मृत्यु के समय का स्पष्ट उल्लेख उनकी कृतियों अथवा अन्य ऐतिहासिक विवरणों में प्राप्त नहीं होता है। संवत् १८८० में रीवाँ नरेश श्री रघुराजसिंह द्वारा लिखित 'भक्त-माल' में उनसे सम्बन्धित जनश्रुतियों को संग्रहीत किया गया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर विद्वानों द्वारा घनानन्द का जन्म संवत् १७४६ में स्वीकार किया गया है। कतिपय विद्वान् संवत् १७३० के आसपास इनका जन्म होना सम्भाव्य मानते

हैं। घनानन्द कायस्थ थे और मुहम्मद शाह रँगीले के दरबार में मुंशी थे। मुहम्मद शाह रँगीले का शासन काल संवत् १७७६ से संवत् १८०५ तक रहा। अतः स्पष्ट है कि अठारहवीं शदी के उत्तरार्द्ध में घनानन्द ने काव्य-सृजन किया।

कहा जाता है कि घनानन्द मुहम्मद शाह रँगीले के दरबार से सम्बद्ध सुजान नामक वेश्या से प्रेम करते थे और वही उनके काव्य की प्रेरणा थी। दरबारी परिवेश की परम्परागत ईर्ष्यावश कुछ सभासद घनानन्द से रुष्ट थे और उन्हें बादशाह की दृष्टि में गिराने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। एक बार दरबारियों ने मुहम्मद शाह से घनानन्द के उत्कृष्ट गायन की प्रशंसा की। बादशाह ने घनानन्द को गाने की आज्ञा दी, पर मन के बादशाह घनानन्द ने उसे स्वीकार नहीं किया। बादशाह से कहा गया कि घनानन्द सुजान के कहने से गा सकते हैं। सुजान को दरबार में बुलाया गया। उसके आग्रह को प्रेम-दीवाने घनानन्द भला कैसे ठुकराते ! घनानन्द ने पूरी तन्मयता से गाया, पर अपनी सुजान की ओर उन्मुख होकर। बादशाह को घनानन्द का गायन तो बहुत अच्छा लगा, परन्तु अपनी उपेक्षा से अपमानित अनुभव करते हुए उन्होंने घनानन्द को राज्य से निर्वासित कर दिया। सुजान के दीवाने गायक कवि घनानन्द ने अपनी प्रिया से भी साथ चलने को कहा, पर सुजान ने इसे स्वीकार नहीं किया। इससे घनानन्द का कोमल प्रेमी-हृदय टूट गया। वे सुजान की उपेक्षा की चोट लिये वृन्दावन चले आये और निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य वृन्दावन देव से दीक्षा ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति में डूब गये। पर हृदय की कचोट नहीं गयी। उन्होंने राधा और कृष्ण को लेकर प्रेम और विरह की जो रचनाएँ लिखीं उन पर सुजान छायी रही। 'सुजान' शब्द का प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के लिए किया और अन्तिम क्षणों तक वे सुजान के ही गीत गाते रहे।

कहा जाता है कि संवत् १८१७ में अहमदशाह अब्दाली के दिल्ली पर आक्रमण के पश्चात् विदेशी लुटेरे वृन्दावन भी पहुँचे और घनानन्द से 'जर-जर' (धन-धन) कहते हुए उन्हें प्रताड़ित करने लगे। घनानन्द हर माँग पर 'रज-रज' कहकर उन्हें पावन ब्रज-रज देते रहे। लुटेरों ने उनका अंग-अंग काट डाला और सुजान-प्रेमी घनानन्द का भौतिक शरीर ब्रज-रज में मिल गया।

इसी आधार पर विद्वान् घनानन्द का निधन वृन्दावन में संवत् १८१८ में स्वीकार करते हैं।

रचनाएँ—घनानन्द की रचनाओं पर विचार करते समय यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'घन आनन्द' और 'आनन्द घन' नाम से प्राप्त रचनाओं के कवि भी घनानन्द ही स्वीकारे गये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने 'घनआनन्द-आनन्दघन' की कृतियों की खोज करके १७ रचनाओं की सूचा दी है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में १८११ छन्दों और १०४४ पदों में घनानन्द-काव्य के अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। श्री विश्वनाथ प्रसाद तथा श्री केशरी नारायण शुक्ल ने भी इस दिशा में खोज की है। मिश्रजी के अनुसार घनानन्द की छोटी-बड़ी ४१ कृतियाँ हैं। इनके नाम हैं—सुजान-हित, वियोग बेलि, कृपाकन्द निबन्ध, इश्कलता, प्रीति पावस, प्रेम पत्रिका, प्रेम सरोवर, यमुना यश, ब्रज विलास, रस बसंत, अनुभव चन्द्रिका, रंग बधाई, प्रेमपद्धति, वृषभानुपुर सुषमा, नाम माधुरी, गोकुल गीत, विचार सार, गिरि पूजन, दान घटा, कृष्ण कौमुदी, धाम चमत्कार, भावना प्रकाश, वृन्दावन मुद्रा, प्रिया प्रसाद, ब्रज स्वरूप, प्रेम पहेली, गोकुल चरित्र, गोकुल विनोद, रसना यश, ब्रज प्रसाद, मुरलिका मोद, मनोरथ मंजरी, ब्रज व्यवहार, गिरि गाथा, ब्रज वर्णन, छन्दाष्टक, कवित्त संग्रह, त्रिभंगी छन्द, स्फुट, पदावली और परमहंस वंशावली।

इन समस्त रचनाओं का वर्ण्य सौन्दर्य, प्रेम और भक्ति ही है। इनमें घनानन्द की प्रेमानुभूति, विरह-व्यथा और राधा-कृष्ण-भक्ति की मार्मिक व्यंजना हुई है।

कवित्व—घनानन्द मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के उन्मुक्त गायक हैं। उनके काव्य में हमें यही प्रवृत्तियाँ प्रधानतः देखने को मिलती हैं। यों इन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भक्ति के गीत गाये हैं, परन्तु वह भक्ति भी दाम्पत्य प्रेम मूलक ही अधिक है। 'सुजान' को वे अन्तिम श्वांस तक भुला नहीं पाये थे। राधा और कृष्ण में भी सुजान की ही छवि देखते हुए इन्होंने भक्ति के ब्याज से अपने अन्तर्मन की सर्वदा अतृप्त प्रेम-पिपासा ही व्यंजित की है।

सौन्दर्य निरूपण—घनानन्द की सौन्दर्यानुभूति अत्यन्त गहन और गम्भीर

है। उन्होंने अपनी प्रिया सुजान की नाना मधुर छवियाँ प्रस्तुत की हैं। उनके काव्य में अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति आँख, अधर, कान, मुख आदि अंगों के अलग-अलग सौन्दर्य-निरूपण के स्थान पर सर्वांग सौन्दर्य की रमणीयता दर्शाने की ही प्रवृत्ति दिखायी देती है। सुजान के रूप-लावण्य, उसके उद्दाम यौवन, उसकी देह-कान्ति आदि के नाना मनोरम और गत्यात्मक, चित्र भरे पड़े हैं। सर्वांग सुन्दरी के अंग-अंग से छलकी पड़ती रूप-कान्ति का यह चित्र देखिए—

> "झलकै अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजति कानन ह्वै।
> हँसि बोलनि मैं छवि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै।
> लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
> अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै॥"

घनानन्द के रूप-वर्णन में उन्मत्त यौवन की मादकता है, गत्यात्मक देह-लावण्य की मोहकता है और इस अन्तःकरण पर इस सौन्दर्य के प्रभाव की गहन-गम्भीरता है।

प्रेम-निरूपण—घनानन्द प्रेमानुभूति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनके काव्य में प्रेम की संयोगजन्य स्थितियों के मादक चित्र देखे जा सकते हैं, किन्तु वे कम ही हैं, क्योंकि सुजान का संयोग उन्हें कम ही मिल पाया था। उनका जीवन वियोग जन्य पीड़ा ही भोगता रहा, अतः उनके प्रेम-निरूपण में विरह की ही प्रधानता है। फिर भी, संयोग के जो चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, उनमे प्रेमोन्माद और तन्मयता है, यथा—

> "सुख स्वेद कनी मुखचंद बनी बिथुरी अलकावलि भाँति भली।
> मद जोबन रूप छकी अँखियाँ अवलोकनि आरस-रंग रली।
> घन आनंद ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज के ओज दली।
> गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ बेलि फली॥"

विरहानुभूति—घनानन्द ने वियोग-शृंगार का विस्तृत निरूपण किया है। उनके हर छन्द में विरही हृदय की आकुल पुकार सुन पड़ती है। उनके विरह-वर्णन में हृदय की मौन व्यथा पूर्ण तीव्रता से व्यंजित हुई है, जिसमें अतिशय गाम्भीर्य और अन्तर्जगत् की सहज सात्विकता सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—बाहर से

वह वियोग प्रशान्त और गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है।"

घनानन्द के वियोग में एक अनवरत आकुलता व्याप्त है। कहीं उसमें प्रिय-मिलन की दुर्दम लालसा है, कहीं प्रिय की निष्ठुरता के प्रति उपालम्भ है, कहीं प्रेमगत वैषम्य की पीड़ा है, कहीं प्रकृति-जन्य उद्दीप्तता है, कहीं अंग-अंग की छटपटाहट है, कहीं प्रिय को अपनी व्यथा के सन्देश का सम्प्रेषण है, और कहीं सात्विका एवं आध्यात्मिकता के क्षितिजों तक विरह की अनुपम उदात्तता है। तीव्र विरहाकुलता भरे उनके कतिपय अंश द्रष्टव्य हैं—

"अन्तर ह्वौ किधौं अन्त रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागिनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं॥"

"घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मनलेहु पै देहु छटाँक नहीं॥"

"जिनकों नित नीकें निहारति हीं तिनकों अखियाँ अब रोवति हैं।
पल-पाँवड़े पायनि चायनि सौं अँसुआन की धारनि धोवति हैं॥"

"घनआनंद जीवनदायक हौ कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुआन कौं लै बरसौ॥"

घनानन्द का वियोग-वर्णन शास्त्रीय परम्परा में बँधा हुआ नहीं है, वह आकुल विरही हृदय की उन्मुक्त व्यथा व्यंजना है। यह वियोग निर्मोह-जन्य है, इसीलिए इसमें प्रिय की निष्ठुरता के प्रति मन की मूक पीड़ा बड़े मर्मान्तक रूप में व्यक्त हुई है।

घनानन्द ने अपने काव्य में प्रणयोन्मत्त हृदय के नाना भावों का मनोरम चित्रण किया है। ये भाव-चित्र पाठक को रसमग्न कर देते हैं। स्मृति, विषाद, रूप-तृष्णा, आवेग, ग्लानि, उल्लास, आकुलता, आसक्ति आदि अनेकानेक भावों की उनके काव्य में मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ उपालम्भ और स्मृति के माध्यम से निम्नलिखित छन्द में अमर्ष आवेग, दैन्य, विषाद आदि भावों की सुन्दर व्यंजना द्रष्टव्य है—

"क्यों हँसि हेरि हर्‌यो हियरा अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे को बोलि सुधासने बैननि चैननि मैन निसैनि चढ़ाई।

सो सुधि मो हिय मैं घनआनंद सालति क्यौं हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीति की पाटी इतै पै न जानियैं कौनें पढ़ाई ।।"

रस की दृष्टि से घनानन्द के काव्य में शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों की उत्कृष्ट व्यंजना हुई है। उनका वियोग शृंगार-वर्णन तो अद्वितीय है। भक्ति के प्रयोगों में उनकी राधा-कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव की भक्ति व्यंजित हुई है।

प्रकृति-चित्रण—व्रज के निकुंजों और वृन्दावन की प्राकृतिक सुषमा के बीच विचरण करने वाले घनानन्द का मन प्रकृति के सौन्दर्य में खूब रमा था। इसीलिए उनके काव्य में प्रकृति की मनोरम झाँकी देखने को मिलती है। घनानन्द ने प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण भी किया है, तथापि विरही घनानन्द के काव्य में प्रकृति का विरहोद्दीपक रूप ही अधिक मुखर है। उदाहरणार्थ—

"लहकि लहकि आवै ज्यौं ज्यौं पुरबाई पौन,
दहकि दहकि त्यौं त्यौं तन ताँवरे तचै।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोकैं हियौ,
गहकि गहकि गहबरनि गरैं मचै।
चहकि चहकि डारै चपला चखनि चाहैं,
कैसैं घनआनंद सुजान बिन ज्यौ बचै।
महकि महकि मारै पावस-प्रसून-बास,
त्रासनि उसास दैया कौ लौं रहिए अचै ।।"

घनानन्द ने अलंकारों के लिए प्रकृति का प्रचुर प्रयोग किया है। इस वर्णन में चमत्कार, सरसता एवं अतिशय भाव-संप्रेषणीयता है—

"किंसुक-पुंज से फूलि रहे सु लगी उर दौ जु वियोग तिहारैं।
मातो फिरै, न घिरै अबलानि पै, जान मनोज यौं डारत मारैं।
ह्वै अभिलाषनि-पात-निपातु कढ़े हिय-सूल उसासनि-डारैं।
है पतझार बसंत दुहूँ घनआनंद एक ही बार हमारैं ।।"

"एरे बीर पौन" जैसे छन्दों में प्रकृति का संदेशवाहिका दूती रूप में भी चित्रण हुआ है। वस्तुतः घनानन्द तन्मयता के कवि हैं, और उनके प्रकृति-चित्रण में भी यह तन्मयता सर्वत्र देखी जा सकती है।

अलंकार-योजना—घनानन्द के काव्य में हृदय-पक्ष का प्राधान्य है, तथापि भाव-सौन्दर्य के संवर्द्धन हेतु उन्होंने विविध अलंकारों का सहज सुन्दर प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में वृत्यानुप्रास, श्लेष, यमक और अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिकरांकुर, प्रतीप, व्यतिरेक, दृष्टान्त, विभावना, अपह्नुति आदि नाना परम्परागत अलंकारों का नवभंगिमा के साथ सुष्ठु प्रयोग घनानन्द के काव्य में हुआ है।

"कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री।" —**वृत्यानुप्रास**

"घनआनंद जीवनदायक है।" —**श्लेष**

"काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है।" —**यमक**

"अंग-अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।"—**उत्प्रेक्षा**

"हाय सनेह सनेही सौं रूखे
रुखाई सौं ह्वै चिक्कने अति सो है।" —**विरोधाभास**

"तेरे आगें चन्द्रमा कलंक सो लगत है।" —**प्रतीप**

घनानन्द के अलंकार-सौष्ठव के सम्बन्ध में डॉ० द्वारका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है, "निस्सन्देह घनानन्द की अलंकार-योजना केवल चमत्कार और कौतूहल उत्पन्न करने वाली नहीं है, अपितु भावों के उत्कर्ष में सहायक हुई है और अभिव्यक्ति को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाने में समर्थ एवं सशक्त रही है।"

छन्द-विधान—स्वच्छन्द धारा के कवि घनानन्द ने अपने उन्मुक्त भावावेग को छन्दों के बन्धन, में लाकर अपूर्व लय और संगीत से भर दिया है। उन्होंने कवित्त, सवैया, त्रिलोकी, ताटंक, त्रिभंगी, घनाक्षरी आदि के साथ-ही दोहा और चौपाई छन्दों में भी काव्य-रचना की है। इनमें घनानन्द के कवित्त और सवैया तो बेजोड़ हैं। वस्तुतः उनका काव्य "छन्द की रस-माधुरी से ओत-प्रोत है, उसमें प्राणों का संगीत भरा हुआ है और वह कवि की हृदय-वीणा के तारों की मधुर झंकार से झंकृत है।"

भाषा-सौष्ठव—भाषा के सुष्ठु भावानुकूल प्रयोग, स्वच्छन्द गतिमयता, अपूर्व लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, व्यंजकता और उसके माधुर्य एवं लोच के लिए घनानन्द प्रख्यात हैं। श्री ब्रजनाथ ने उन्हें 'ब्रजभाषा-प्रवीन' कहा है।

लाक्षणिकता—घनानन्द की सुमधुर ब्रजभाषा की प्रमुख विशेषता है। उन्होंने भाषा की लक्षणा शक्ति के मर्म को भली-भाँति समझा है और गत्यात्मक सौन्दर्य, भाव एवं क्रिया-व्यापार के सजीव शब्द-चित्र अंकित किये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार, 'लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर कम ही पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई।" घनानन्द द्वारा प्रेमी की 'बावरी रीझ' का यह मूर्तिमन्त लाक्षणिक चित्र देखिए—

"रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथ न हरिए।"

उनकी भाषा में अद्भुत **चित्रात्मकता** है। कम और सटीक शब्दों में मधुर-मदिर चित्र अंकित करने में घनानन्द अपना सानी नहीं रखते हैं।

प्रेम की पीर के गायक घनानन्द की भाषा **भावानुकूल** कोमल-कान्त पदावली से युक्त है। उनकी सुललित पदावली में अद्भुत **अर्थ-गाम्भीर्य** है। स्वयं घनानन्द के अनुसार उनकी वाणी रूपी वधू मौन का अवगुंठन डाले हृदय-भवन में छिपी बैठी है—

"उर-भौन कै मौन को घूंघट दै दुरि बैठा बिराजति बात-बनी।"

इस मौन के भीतर से झाँकते भाषा-सौष्ठव को सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही समझ पाते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"बिछुरैं-मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय का गतिकौं परसै।"

यहाँ घनानन्द ने प्रेमी-हृदय की दशा को मीन और पतंग की परम्परा-प्रसिद्ध विछोह-दशा से कहीं उत्कृष्ट दर्शाया है। मछली जल से विलग होकर मर जाती है और पतंग दीपक में जल कर प्राण दे देता है, परन्तु प्रेमी तो विछोह की असह्य पीड़ा को सहता हुआ सिसक-सिसक कर जीवित रहता है, प्राण देकर वियोग-व्यथा से छुटकारा नहीं पाता। इसीलिए 'मीन पतंग-दसा' भला उसकी दशा का स्पर्श भी कहाँ कर सकती है। यह है घनानन्द की भाषा का अर्थ-गाम्भीर्य।

वचन-वक्रता घनानन्द की भाषा का विशेष गुण है। उनके छन्दों में स्थान-स्थान पर वक्रोक्तियों की छटा देखी जा सकती है। इन वक्रोक्तियों में व्यंग्य का माधुर्य सर्वत्र विद्यमान है; यथा—

—"तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।"

—"सुनी है कि नाहीं यह प्रगट कहावत जू
काहू कलपाय है सु कैसैं कल पाय है।"

घनानन्द की भाषा में उक्ति-वैचित्र्य, निजी शब्दों के प्रयोग का वैचित्र्य और अनेक स्थलों पर विरोधमूलक वैचित्र्य भरा पड़ा है। वैचित्र्य सम्पन्न ये उक्तियाँ बड़ी सरस और मार्मिक बन पड़ी हैं, जैसे—

"उत ऊपर पाय लगी मिहँदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।"

—"इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनि, कैसैं उलाहनों दीजिए जू।"

—"पौन सौं जागति आगि सुनी ही पै पानी सौं लागति आँखिन देखी।"

घनानन्द ने कम शब्दों में अधिकाधिक बात कहने के लिए अपनी भाषा में सामासिक पदावली का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है, यथा—

"रूप-गुन-मद-उनमद नेह-तेह भरे
छल-बल-आतुरी चटक चातुरी पढ़े।"

और "महा-प्रेम-सम्पत्ति-विलास-ठकुरानी है।"

सम्प्रेषण को सहज गतिमय, जीवन्त और मधुर बनाने में घनानन्द की भाषा में मुहावरों, लोकोक्तियों और जनपदीय शब्दों के प्रचुर प्रयोग का विशेष योगदान है। ब्रजभाषा का सम्पूर्ण लालित्य, माधुर्य, मार्दव और सजीवता घनानन्द के काव्य में चरम प्रकर्ष पर है। कतिपय मुहावरों और जनपदीय पदावली के प्रयोग देखिए—

—"दिनन को फेर मोहि तुम मन फेरि डार्‌यो।"

—"अनाकानी दैबों दैया घाय कैसो लौन है।"

—"तौलौं रे डरारे बजमारे घन घोरिलै।"

—"पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यौंही।"

उपर्युक्त नाना विशेषताओं के साथ-ही घनानन्द की भाषा में अद्भुत नाद-सौन्दर्य, द्वयर्थकता, शब्द-मैत्री, शब्द-लोच आदि के कारण अपूर्व लालित्य की सृष्टि हुई है। सुजान की भाँति ही घनानन्द की भाषा भी परम लजीली, लचीली, सजीली, रसीली, कान्तिमयी और आकर्षक जीवन्त भाषा है। इसीलिए काव्य-मर्मज्ञों ने घनानन्द के भाषा-सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था, वैसा और किसी का नहीं।" आगे वे लिखते हैं कि "अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।

भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।" डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा के शब्दों में, "उनकी भाषा का स्वरूप साहित्यिक होते हुए भी ठेठ व्रज के लोक प्रयुक्त स्वरूप का माधुर्य लिये हुए है, साथ ही उनके निजी व्यक्तित्व का सौन्दर्य, बाँकपन, माधुर्य आदि भी उसमें समा गया।"

रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा और घनानन्द—रीतिकाल की शास्त्रीय पारस्परिकता की लीक को छोड़कर प्रेम की उन्मुक्त, भावमय, स्वाभाविक एवं सर्वथा नूतन अभिव्यंजना करने वाली तद्युगीन काव्यधारा को रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा कहा गया है। इस परम्परा में रसखान कृत 'प्रेम वाटिका', 'सुजान रसखान', आलम कृत 'माधवानल कामकंदला', 'स्याम सनेही', ठाकुर कृत 'ठाकुर ठसक', 'ठाकुर शतक', बोधा कृत 'इश्कनामा', 'विरह वारीश', द्विजदेव कृत 'शृंगार बत्तीसी', 'शृंगार लतिका' और घनानन्द की प्रायः काव्य-कृतियाँ आती हैं। रसखान में प्रेम की उन्मत्तता और प्रेम-पीड़ा की विह्वलता है, पर उनका रचना-कौशल सामान्य है। आलम ने प्रेम के लौकिक एवं अलौकिक स्वरूप की सहज उन्मुक्त व्यंजना की है; किन्तु इनकी रचनाओं में घनानन्द जैसा उक्ति-वैचित्र्य और प्रयोग-वैचित्र्य नहीं मिलता। ठाकुर के प्रेम-निरूपण में भी स्वाभाविक, तन्मयता और उमंग है। बोधा और द्विजदेव ने भी प्रेम का सहज स्वाभाविक, अकृत्रिम और स्वच्छन्द निरूपण किया है। किन्तु घनानन्द के काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति का जो सौष्ठव और बाँकपन है, उस तक ये कवि नहीं पहुँच सके हैं। गहन-प्रेम-संवेदना और तीव्र विरहानुभूति के साथ उत्कृष्ट शिल्प-सौष्ठव घनानन्द की अपनी विशेषता है। इसीलिए निर्विवाद रूप से वे रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा के शीर्षस्थ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

८. भूषण

सुरा और सुन्दरी के उन्माद में डूबे राजाओं की विलासी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए नारी के अंग-प्रत्यंग का कामोद्दीपक चित्रण करके रीतिकालीन कविवाणी (कविता) को वासना की वाहिका (धारण करने वाली) बना रहे थे। तभी वीर रस के सशक्त कवि भूषण ने अपनी पौरुष-वाणी में राष्ट्रीय स्वाभि-

मान का शंखनाद कर अनायास ही सारे राष्ट्र का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। सोया भारत-भूषण के सिंहनाद से जाग उठा था।

जीवन-वृत्त—वाणी के इस ओजस्वी पुत्र का वास्तविक नाम अभी तक अज्ञात है। 'भूषण' उन्हें चित्रकूट से सोलंकी राजा रुद्रराम द्वारा प्रदान की गई उपाधि है, जो आज उनका नाम ही बन गई है। भूषण का जन्म कानपुर के निकट तिकवाँपुर नामक ग्राम में संवत् १६७० (सन् १६१३) में हुआ था। पिता पं० रत्नाकर त्रिपाठी और अन्य भाई चिन्तामणि, मतिराम एवं नीलकण्ठ भी श्रेष्ठ कवि थे।

कहा जाता है कि स्वाभिमानी भूषण अपनी भाभी के ताना मारने पर घर से निकल गये थे। अपने भाई चिन्तामणि के पास दिल्ली पहुँचे तो औरंगजेब इनकी काव्य प्रतिभा से अति प्रभावित हुआ। पर इनके देशाभिमान को वहाँ स्थान कैसे मिलता? ये चित्रकूट के राजा रुद्रराय के दरबार में रहे, सम्मान पाया। बाद में ये शिवाजी के राज्याश्रय में कवि रहे। कहते हैं कि शिवाजी ने 'इन्द्र जिमि जम्भ पर।' छन्द को अठारह बार बड़ी तन्मयता से सुनकर भूषण को अठारह लाख स्वर्ण मुद्रायें और अठारह गाँव देकर सम्मानित किया था। भूषण के दूसरे आश्रयदाता महाराज छत्रसाल थे।

भूषण का काव्यशास्त्र पर अधिकार था। धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि का भी उनको व्यापक ज्ञान था। स्वाभिमान, निर्भीकता, जाति-गौरव अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की भावना आदि उनके ओजस्वी व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ थीं।

रीतिकाल के विलासितामय वातावरण में वीरत्व का क्रान्ति-नाद करने वाला यह ओजस्वी स्वर सम्वत् १७७२ (सन् १७१५) में सदा के लिए मौन हो गया।

रचनाएँ—भूषण की प्रमुख रचनाएँ 'शिवा बावनी', 'शिवराम भूषण' और 'छत्रसाल दशक' हैं। 'शिवा बावनी' में महाराज शिवाजी के शौर्य का ओजस्वी आख्यान है। 'शिव-राम भूषण' रीतिकालीन अलंकारवादी और लक्षण ग्रन्थ-रचना की प्रवृत्ति से प्रभावित ग्रन्थ है। इसमें अलंकार की परिभाषा देते हुए शिवाजी की प्रशंसा में लिखित छन्द उस अलंकार के उदाहरणस्वरूप दिया गया है। 'छत्रसाल-दशक' में वीर छत्रसाल के पराक्रम, वीरता, युद्ध-कौशल

आदि की यशोगाथा है। इन रचनाओं के अलावा 'भूषण हजारा' और 'भूषण उल्लास' नाम की दो और कृतियाँ भूषण की बताई जाती हैं, किन्तु ये अब तक अनुपलब्ध ही हैं।

कवित्व—भूषण वीर रस के अन्यतम कवि हैं। उनकी कविता का वर्ण्य ही शिवाजी और छत्रसाल का वीरत्व है। वीर रस की पूर्णता जैसी भूषण के काव्य में है, वैसी अन्य कवि की रचनाओं में नहीं मिलती। शिवाजी की युद्ध-वीरता और धर्म-वीरता देखिए—

(क) "साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत हैं।" (युद्धवीर)

(ख) "राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यौ,
अस्मृति पुरान राखे बेद विधि सुनी मैं।" (धर्मबीर)

भूषण के वीर रस वर्णन में विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि की सम्यक् योजना हुई है और वीर रस का ऐसा सहज स्वाभाविक परिपाक हुआ है कि कायर पुरुष भी एक बार वीरोचित उत्साह से भर जाता है।

वीर रस के अतिरिक्त भूषण के काव्य में रौद्र वीभत्स, भयानक आदि रसों की भी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। सब वीर रस के सहयोगी बनकर ही आये हैं। देखिए—

"भूषण भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।"

× × ×

"प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि
कालिका सो किलकि कलेऊ देति काल को।"

वीर रस के इस कवि ने कतिपय शृंगार-रस के सरस छन्दों का जो सृजन किया है। इनमें कुछ तो निश्चय ही उच्चकोटि के हैं।

भूषण की कविता अपने युग का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। उसमें आश्रयदाताओं की मिथ्या प्रशंसा और इतिहास को झुठलाने की बेईमानी नहीं है।

उदाहरणार्थ— "दारा की न दौरि यह रार नहीं खजुवे की,
बाँधिवो नहीं है किधौं मीर सहवाल को।"

शिवाजी और छत्रसाल के आश्रय में रहकर भूषण ने युद्ध को बहुत निकट से देखा था। यही कारण है कि युद्ध के निमित्त सेना का प्रयाण, युद्ध-क्षेत्र की मार काट, युद्ध में विजयी पक्ष का प्रतिपक्ष पर आतंककारी प्रभाव आदि का स्वाभाविक और चित्रोपम वर्णन उनके काव्य में मिलता है, यथा—

"बाने फहराने घहराने घण्टा गजन के
नाहीं ठहराने राव राने देस-देस के।
नग घहराने, ग्राम नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेश के॥"

कुछ आलोचक शिवाजी पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हैं और कहते हैं कि हिन्दुओं के कवि भूषण ने औरंगजेब का विरोध उसके मुसलमान होने के कारण किया था, न कि राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर। आलोचक सच्चाई से आँखें मूँदे हुए हैं। भूषण ने बाबर, हुमायूँ आदि की प्रशंसा की है। औरंगजेब मुसलमान के रूप में नहीं अत्याचारी शासक और हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के ध्वंसकर्ता के रूप में उनकी घृणा, आक्रोश और विरोध का लक्ष्य है।

तत्कालीन परिस्थितियों में भारत हिन्दू राष्ट्र था, इसके हिन्दुत्व को समाप्त करना, भारत राष्ट्र को समाप्त करना था। इसीलिए हिन्दू राष्ट्र के रक्षक शिवाजी और छत्रसाल भूषण की प्रशंसा के पात्र बने हैं। 'दिल्ली' विदेशी अन्यायी शासक की प्रतीक बन गई थी, इसलिए भूषण ने 'दिल्ली दल दबाने' की बात (दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में) कही है और 'सिवराज महाकाल' के धक्के से दिल्ली के डूबने की चेतावनी औरंगजेब को दी है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने 'आजाद हिन्द फौज' को 'दिल्ली चलो' का नारा दिया था। निस्संदेह, भूषण की कविता के मूल में राष्ट्रीयता की सशक्त भावना विद्यमान थी।

भूषण भी राज्याश्रित कवि रहे, पर उन्होंने विलासी राजाओं की चाटुकारिता नहीं की। उनकी प्रशंसा का आधार शिवाजी और छत्रसाल के चरित्र की महत्ता थी—

"पुण्य चरित्र सिवा सरजा सइ न्हाइ पबित्र भई पुनि बानी।"

इसीलिए उन्होंने केवल शिवा और छत्रसाल की प्रशंसा की घोषणा की—**सब साहू कौं सराहौं कै सराहौं छत्रसाल कौं।**

भूषण की भाषा ब्रज है, तथापि उसमें घनानन्द, बिहारी, देव जैसी कोमलकान्त पदावली देखने को नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि भूषण वीर रस के कवि हैं। वीर, रौद्र, भयानक रसों की व्यंजना के लिए कठोर ध्वनि वाली भाषा ही उपयुक्त रहती है। भूषण ने भाषा के इसी रूप का प्रयोग किया है। शिवाजी की विजय-यात्रा के बजते हुए नगाड़ों की ध्वनि के समान ही भूषण की भाषा में वीरत्व की ओजपूर्ण ध्वनि सुनायी देती है। उनकी भाषा में एक विशेष नाद-सौन्दर्य है, गत्यात्मकता है, भाव-प्रकाशन की अद्भुत शक्ति है। भूषण का शब्द-चयन देखते ही बनता है।

मुहावरों और लोकोक्तियों का भूषण ने बड़ा सजीव प्रयोग किया है। एक छन्द में औरंगजेब के अत्याचारों और फिर पूजा नमाज की कट्टरता के विरोधाभास को प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

"सौ-सौ चूहे खाइ कै बिलारी बैठी तप पै।"

भूषण की ब्रजभाषा में अरबी, फारसी, बुन्देलखण्डी आदि के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यत्र-तत्र खड़ी बोली का पुट भी मिल जाता है। कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया है, व्याकरण की अशुद्धियाँ भी हैं। पर भाषा की सामर्थ्य अक्षुण्ण रही है।

भूषण का अलंकार-शास्त्र पर पूर्ण आधिपत्य था। इसका प्रमाण उनका 'शिवराज भूषण' है। उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष, सांगरूपक आदि अलंकारों का भूषण ने सुन्दर प्रयोग किया है। वीर भावों की व्यंजना युद्ध-वर्णन आदि अतिशयोक्ति का बड़ा ही सजीव प्रयोग हुआ है। **"ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर"** वाला पूरा ही छन्द यमक के चमत्कार से परिपूर्ण है। उपमा, उदाहरण आदि भी अत्यन्त स्वाभाविक हैं, जैसे—

"तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।"

ओज और चित्रात्मकता भूषण की वर्णन-शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। वीर रस का प्राधान्य होने के कारण उनकी शैली ओजपूर्ण है। सजीव युद्ध

वर्णन आदि में चित्रात्मकता दर्शनीय है। ध्वन्यात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। रीतिकालीन प्रभाव से कहीं-कहीं चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। समग्र रूप से भूषण की शैली अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक है।

भूषण ने प्रायः कवित्त और छप्पय छन्दों का प्रयोग किया है, जो वीर और रौद्र रस के लिए सर्वाधिक उपयुक्त ठहरते हैं। सवैया और दोहा में भी भूषण ने सफलतापूर्वक काव्य-रचना की है। भूषण की छन्द योजना अत्यन्त सफल है।

भूषण अपने क्षेत्र के अद्वितीय कवि हैं। शताब्दियों बाद चन्दवरदाई के पश्चात् वीरत्व का उद्घोष भूषण की वाणी में हुआ था। चन्द के समय के विदेशी शासन के विरुद्ध संग्राम नहीं था, भूषण के युग में था। इसीलिए भूषण का महत्व और भी बढ़ जाता है। फिर भूषण ने यह सिंहनाद उस समय किया जबकि अधिकांश राजा विलासिता में तथा कविगण उनकी चाटुकारिता में डूबे हुए थे। भूषण ने सशक्त किन्तु विलास-निद्रा में डूबे भारत राष्ट्र को अपने ओजस्वी स्वर में जगाने का प्रयास किया था। रीतिकालीन काव्यधारा में वीर रस की पावन गंगा प्रवाहित करने वाले इस भागीरथ का स्थान क्रान्तिकारी कवि के रूप में अद्वितीय है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "प्रेम और विलासिता के साहित्य का ही उन दिनों प्राधान्य था, उसमें उन्होंने वीर रस की रचना की, यही उनकी विशेषता है।"

निस्संदेह, वे माँ भारती के भूषण थे। आज भूषण राष्ट्रीय जागरण के और उनकी लेखनी वीर रस की ओजपूर्ण काव्य-रचना की प्रतीक बन गई है।

भूषण की रचनाओं में युगीन प्रवृत्तियाँ—भूषण जिस युग में हुए, उसे हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से जाना जाता है और यह युग श्रृंगारिक कविता के लिए प्रसिद्ध है। रीतिकालीन हिन्दी काव्य में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ मुख्यतः देखने में आती हैं—(१) आश्रयदाता राजाओं की अतिशय प्रशंसा, (२) काव्य-लक्षणों (रीति) का निरूपण, (३) श्रृंगार प्रधान काव्य-रचना, (४) नीति और भक्ति का उपदेश, (५) उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन, (६) अलंकारों की प्रचुरता और चमत्कार-प्रदर्शन, (७) मुक्तक काव्य-रचना, (८) सुललित समर्थ ब्रजभाषा का प्रयोग।

कविवर भूषण रचित तीन काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'शिवराज भूषण',

'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक'। इन ग्रन्थों में हमें रीतिकाल की अधिकांश प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

रीतिकालीन अन्य कवियों के समान ही महाकवि भूषण ने भी अपने आश्रयदाता छत्रपति शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल की हृदय खोलकर प्रशंसा की है। वे तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

"और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब
साहू कौं सराहौं के सराहौं छत्रसाल कौं।"

किन्तु यह समानता होते हुए भी एक अन्तर है। अन्य कवियों ने व्यक्तिगत लाभ और अर्थ प्राप्ति के उद्देश्य से आश्रयदाता राजाओं की विलासिता को तुष्टि देने के लिए कविता को अश्लीलता तक पहुँचा दिया है। उनके द्वारा आश्रयदाताओं की प्रशंसा चाटुकारिता (चापलूसी) है। भूषण ने शिवाजा और छत्रसाल में स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के लिए जूझने वाले शौर्य का देखा था और उसी की महिमा का गान किया।

शिवाजी के चरित्र के नाना गुणों को देखकर और अपने युग के कवियों की रीति-परम्परा के प्रभाव से भूषण से भी अलंकार-निरूपण करते हुए 'शिवराज भूषण' की रचना की। भूषण स्वयं कहते हैं—

"शिवचरित लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सौं, भूषति करौं कवित्त॥
सुकबिन हू की कछु कृपा, समुझि कबिन को पन्थ।
भूषन भूषनमय करत, शिवभूषन शुभ ग्रन्थ॥"

इसमें 'समुझि कबिन को पन्थ' विशेष ध्यान देने योग्य है। भूषण भी रीतिकालीन कवियों के मार्ग का अनुसरण करने का मोह नहीं छोड़ सके हैं। 'शिवराज भूषण' में उन्होंने दोहा छन्द में १०५ अलंकारों के लक्षण बताये हैं और उसने उदाहरणस्वरूप शिवाजी के वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन किया है। इस प्रकार वे भी रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में आ बैठे हैं।

रीतिकाल के सभी कवियों के काव्य में शृंगार रस का प्राधान्य है। भूषण इस बात में अन्य सब कवियों से पूर्ण पृथक् हैं। उनकी कविता वीर रस की कविता है। फिर भी ऐसा नहीं है कि उन्होंने शृंगार रस का स्पर्श

ही न किया हो। युग की परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होंने शृंगार वर्णन भी किया है, जो बड़ा सरस है। उदाहरणार्थ—

> "कारो घन घेरि घेरि मार्‌यो अब चाहत है,
> एते पर करति भरोसो कारे काग को।"

रीतिकालीन कवियों की यह प्रवृत्ति भूषण में नहीं है। वे मूलतः वीर-रस के कवि हैं।

रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने षट्‌ऋतु-वर्णन आदि के रूप में प्रकृति-चित्रण किया है। प्रायः नायक-नायिका के रतिभाव के उद्दीपन के उद्देश्य से ही किया गया है। भूषण ने भी परम्परा निर्वाह के लिए कुछ छन्दों में प्रकृति-वर्णन किया है, पर यह प्रवृत्ति उनमें अल्प ही मिलती है।

रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति ही भूषण को भी अलंकारों से कविता कामिनी को सजाने का विशेष चाव रहा है। उन्होंने युद्ध, शिवाजी के प्रताप और आतंक के चमत्कारपूर्ण वर्णन भी खूब किये हैं। उनका "ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर रहनवारी, ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर रहाती है।....." छन्द तो यमक के चमत्कार का प्रसिद्ध उदाहरण है। इसी प्रकार अनुप्रास, यमक, श्लेष, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के चमत्कारपूर्ण प्रयोग उनकी रचनाओं में पर्याप्त मिलते हैं, जैसे—

> "प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि
> कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को।" (अनुप्रास)

× × ×

> "पच्छी पर छीने ऐसे परे परछीने वीर
> तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।" (श्लेष, यमक)

रीतिकाल में प्रायः मुक्तक काव्य की ही रचना हुई है। भूषण भी इस प्रवृत्ति से प्रभावित रहे हैं। वे शिवाजी और छत्रसाल के शौर्यपूर्ण चरित्र को लेकर प्रबन्ध-काव्य की रचना कर सकते थे, किन्तु युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप उन्होंने फुटकर छन्दों में ही इन राजाओं की शौर्य गाथा गायी है।

रीतिकाल में ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना हुई है। भूषण की भाषा भी ब्रज ही है, जिसमें अरबी, फारसी, बुन्देलखण्डी आदि के शब्द भी आ गये हैं। उनकी भाषा ब्रज तो है, पर कोमल-कान्त पदावली नहीं है। वीर-रस के कवि होने के कारण उन्होंने विषय के अनुरूप ही ब्रजभाषा की कठोर ध्वनि

वाली शब्दावली का प्रयोग किया है। उनकी भाषा विषयानुरूप बड़ी ही सशक्त भाषा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण के काव्य में अपने युग (रीतिकाल) की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।

भूषण के काव्य में राष्ट्रीय भावना

कुछ आलोचक भूषण पर साम्प्रदायिक कवि होने का दोषारोपण करते हैं। उनका कहना है कि भूषण ने हिन्दू-हिन्दुवानी, देव-देवालय, चोटी-जनेऊ, वेद-पुराण आदि की रक्षा की बात कही है और औरंगजेब का उसके मुसलमान होने के कारण विरोध किया है। उनका यह रूप उनके संकीर्ण हिन्दूवाद का परिचायक है। किन्तु भूषण पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाने वाले आलोचकों की धारणा सही नहीं है। वास्तविकता यह है कि भूषण का काव्य पूर्णत: राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। निम्नलिखित आधार पर हमारे इस कथन की पुष्टि होती है—

तत्कालीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि औरंगजेब हिन्दुओं का कट्टर विरोधी था। उसकी इसी अन्धी साम्प्रदायिकता के विरुद्ध भूषण ने अपनी ओजस्वी वाणी में उस राष्ट्रीय क्रान्ति का बिगुल बजाया था, जिसके नेता थे छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल बुन्देला। औरंगजेब का विरोध उसकी अन्धी साम्प्रदायिकता का विरोध था। भूषण कहीं भी साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित नहीं दिखायी देते। वे हिन्दुओं की रक्षा के निमित्त शिवाजी की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि उस समय हिन्दू राष्ट्र का प्रमुख अंग होते हुए भी औरंगजेबी शासन की बर्बरता के शिकार हो रहे थे। हर राष्ट्र-प्रेमी अपने राष्ट्र के पीड़ित वर्ग के समर्थन में आवाज उठाता है। इस आधार पर उसे अराष्ट्रीय या साम्प्रदायिक तो घोषित नहीं किया जा सकता।

यदि भूषण संकीर्ण साम्प्रदायिकता से प्रेरित होते, तो वे प्रत्येक हिन्दू राजा की प्रशंसा केवल उसके हिन्दू होने के कारण करते। पर अत्याचारी साम्प्रदायिक शासन के समर्थक हिन्दू शासक भी भूषण की प्रशंसा और श्रद्धा के पात्र नहीं बन सके। राष्ट्रीय भावना के कारण ही केवल दो शासकों के प्रति भूषण का हृदय श्रद्धाभिभूत हुआ था।

> "और राव राने एक मन में न ल्याऊँ अब,
> साहू कौं सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।"

भूषण मुस्लिम-विरोधी नहीं थे, साम्प्रदायिकता के विरोधी थे। बाबर, हुमायूं, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदार नीति से हट जाने के कारण भूषण ने औरंगजेब का विरोध किया है—

"दौलत दिल्ली की पाय कहाये आलमगीर,
बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं :"

× × ×

"बाबर, अकबर, हुमायूँ हद बाँधि गये,
हिन्दू और तुरक की कुरान ढब वेद की।
और पातसाहन में दूनी चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर, शाहजहाँ साख पूरे तन की।"

इतिहास साक्षी है कि शिवाजी बन्दी मुसलमानों और उनकी स्त्रियों से बड़ा सम्मानपूर्ण व्यवहार करते थे। यही कारण है कि वे भूषण के आदर्श नायक थे।

औरंगजेब के विरुद्ध भूषण की आवाज आततायी शासक के विरुद्ध भारत की अत्याचार-पीड़ित जनता की ही आक्रोशमयी वाणी है। औरंगजेब राष्ट्रीय-साम्प्रदायिकता का प्रतीक है और शिवाजी राष्ट्रीयता के रक्षक हैं। भूषण पूर्णतः राष्ट्रीय-पक्ष के साथ हैं—तत्कालीन दिल्ली के अत्याचारी शासन को भूषण ने स्पष्ट चेतावनी देते हुए कहा था—

"बूड़ति है दिल्ली सो सम्हारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो शिवराज महाकाल को।"

यह ललकार ठीक उसी प्रकार की है, जैसे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज को 'दिल्ली चलो' का नारा दिया था। क्या नेताजी को इसलिए साम्प्रदायिक कहा जा सकता है कि उन्होंने राष्ट्र से ईसाई शासन को हटाना चाहा था? नहीं! वे ईसाइयों के नहीं, अत्याचारी धर्मान्ध शासन के विरोधी थे। वे राष्ट्र को ऐसे शासन से मुक्त देखना चाहते थे ताकि समाज के वर्ग, धर्म-सम्प्रदाय फूलें-फलें।

जब सारा राष्ट्र औरंगजेब के दमन-चक्र से कुचलकर कराह रहा था और समस्त छोटे-छोटे शासक विलास-निद्रा में डूबे हुए थे, तब महाकवि भूषण ने अपने सिंहनाद से भारत की सुषुप्त राष्ट्रीय भावना को जगाने का महान् कार्य किया था। राष्ट्रीयता का शंख फूंकने वाले हिन्दी कवियों में भूषण प्रथम कवि हैं। निश्चय ही, वे हमारे सच्चे राष्ट्रीय कवि हैं।

काव्य-कौस्तुभ

१. कबीरदास

साखी

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौहाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥१॥
सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥२॥
कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आतमां, हरी भई बनराइ ॥३॥
हँसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्ह्या मार।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुरु के हथियार ॥४॥
बूड़े थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥५॥
कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥६॥
कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा, बेगै लेहु बुझाइ ॥७॥
कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥८॥
रात्यूँ रूँनी बिरहिनीं, ज्यूँ बंचौ कूँ कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥९॥
बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥१०॥

यह तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ।।११।।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, जागा जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिला पियारा कंत ।।१२।।

नैना अंतरि आव तूँ, ज्यूँ हौं नैन झपेउँ।
ना मैं देखौं और कूँ, नाँ तुझ देखन देउँ ।।१३।।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ।।१४।।

आहेड़ी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ।
जा बन मैं क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ।।१५।।

जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पिपीलिका, लोगनि लादे बैल ।।१६।।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वाँति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ।।१७।।

मान सरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुगता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ।।१८।।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराइ।
बूँद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ ।।१९।।

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ।।२०।।

कबीर पटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम राणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि ले करतार ।।२१।।

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहिं।
ऐसैं घट घट राम हैं, दुनियां देखै नाहिं ।।२२।।

माया तरवर त्रिबिधि का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनैं नहीं, फल फीकौ तनि ताप ।।२३।।

बगुली नीर बिटालिया, सायर चढ़्या कलंक ।
और पखेरू पी गए, हंस न बोवै चंच ।।२४।।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि ।
दसवाँ द्वारा दोहरा, तामैं जोति पिछांणि ।।२५।।

कमोदिनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि ।
जो जाही का भावता, सो ताही के पास ।।२६।।

कबीर यहु जग किछु नहीं, पिन खारा पिन मीठ ।
काल्हि जु बैठा माड़ियां, आज मसांणाँ दीठ ।।२७।।

जे काटौं तो डहडही, सींचौं तो कम्हिलाइ ।
इस गुणवंती बेलि का, किछु गुण कह्या न जाइ ।।२८।।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कह कबीर पिउ पाइए, मन हीं की परतीति ।।२९।।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ ।।३०।।

पद

दुलहिनीं गावहु मंगलचार ।
म्हारे घर आए हो राजा राम भरतार ।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंच तत्त बराती ।
रामदेव मोरै पाहुनैं आए मैं जोबन मैं माती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचार ।
रांमदेव संगि भाँवरि लैहूँ धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तेतीसूँ कौतिग आए मुनियर सहस अठ्यासी ।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी ।।१।।

मन रे जागत रहिए भाई ।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ।।

षट चक्र की कनक कोहड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कुंची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई।।
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागत लागी।
जरा मरण ब्यापै किछु नाहीं, गगन मंडल लै लागी।।
करत बिचार मन ही मन उपजी, ना कहिं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया।।२।।

पंडित बाद बदंते झूठा।
राम कह्याँ दुनियाँ गति पावै, षांड कह्याँ मुख मीठा।
पावक कह्याँ पाँव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्याँ भूख जे भाजै, तो सबकोई तिरि जाई।।
नर के साथ सुवा हरि बोलै, हरि परताप न जानें।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जँगल में, बहुरि न सुरतै आनै।।
साँची प्रीति विषै माया सूँ, हरि भगतन सूँ हाँसी।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपज्यो, बाँध्यौ जमपुर जासी।।३।।

काहे री नलनीं तू कुम्हिलांनी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।।
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनी तोर निवास।।
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि।।
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहिं मुए हमारे जान।।४।।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार बाकौं क्यों खोलै।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोलै।।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोलै।
हंसा पाये मान सरोवर, ताल तलैया क्यों डोलै।।
तेरा साहब है घर माँहीं, बाहर नैना क्यों खोलै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओलै।।५।।

साधो एक रूप सब माँहीं ।
अपने मनहिं विचारि कै देखौ और दूसरो नाहीं ।।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के माँहीं ।
कहीं नारि कहीं नर ह्वै बोले गैब पुरुष वह नाहीं ।।
सब्द पुकारि सत्त मैं भाखौं अंतर राखौं नाहीं ।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरले ताहि लखाहीं ।।६।।

---

२. मलिक मुहम्मद जायसी

मानसरोदक-खंड

एक दिवस पून्यौ तिथि आई। मानसरोदक चली नहाई।।
पदमावति सब सखीं बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई।।
कोई चंपा कोइ कुंद सहेली। कोई सुकेत, करना, रस बेली।।
कोई सु गुलाब सुदरसन राती। कोई सो बकावरि-बकुचन भाँती।।
कोइ सो मौलसिरि, पुहपावती। कोई जाही जूही सेवती।।
कोई सोन जरद, कोई केसर। कोई सिंगार-हार नागेसर।।
कोई कूजा सदबर्ग चमेली। कोई कदम सुरत रस-बेली।।

चलीं सबै मालति संग, फूली कँवल कुमोद।
बेधि रहे गन गँधरब, बास-परमदामोद।।१।।

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पाल पर ठाढ़ी भईं।।
देखि सरोवर हंसें कुलेली। पदमावति सौं कहहिं सहेली।।
ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।।
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर-पाली।।
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा।।
सासु ननद बोलिहिं जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देहीं।।

पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह।।२।।

मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेहिं सुख बारी भोरी।।
झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहिं झूलन देइहि साईं।।
पुनि सासुर लेइ राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ।।
कित यह धूप, कहाँ यह छाहाँ। रहब सखी बिनु मंदिर माहाँ।।
गुन पूछहिं और लाइहि दोखू। कौन उतर पाउब तहँ मोखू।।

सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुवौ कर जोरे।।
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अंत जनम दुख भरना।।

कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे वह खेल।
आपु आपु कहँ होइहि, परब पंखि जस डेल।।३।।

सरवर तीर पदमिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई।।
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झांपि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहाँ।।
छपि गै दिनिहिं भानु के दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा।।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा।।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौंहें धनुख गगन लेइ राखी।।
नेन-खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच-नारंग मधुकर रस लेहीं।।

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पावँ छुवैं मकु पावौं, यहि मिस लहरहिं देइ।।४।।

धरी तीर सब कंचुकि सारी। सरवर महँ पैठीं सब बारी।।
पाइ नीर जानौ सब बेली। हुलसहिं करहिं काम कै केली।।
करिल केस बिसहर बिस-भरे। लहरहिं लेहिं कवँल मुख धरे।।
नवल बसंत सँवारी करी। होइ प्रगट जानहु रस भरी।।
उठी कोंप जस दारिवँ दाखा। भई अनंत पेम कै साखा।।
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा।।
धनि सो नीर ससि तरई ऊईं। अब कित दीठ कमल औ कूईं।।

चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलों, हो नाहँ।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माहँ।।५।।

लागीं केलि करै मझ नीरा। हंस लजाइ बैठ ओहि तीरा।।
पदमावति कौतुक कहँ राखी। तुम ससि होहु तराइन्ह साखी।।
बाद मेलि कै खेल पसारा। हार देइ जौ खेलत हारा।।
संवरहि साँवरि, गोरिहिं गोरी। आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी।।
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हार न होइ पराए हाथा।।

आजुहिं खेल, बहुरि कित होई। खेल गए कित खेलै कोई ।।
धनि सो खेल खेल सह पेमा । रउताई औ कूसल खेमा ।।
मुहमद बाजी प्रेम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल ।।६।।
सखी एक तेइ खेल न जाना। भै अचेत मनि-हार गवाँना ।।
कवँल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा ।।
कित खेलै आइउँ एहि साथा। हार गँवाइ चलिउँ लेइ हाथा ।।
घर पैठत पूँछब यह हारू। कौन उतर पाउब पैसारू ।।
नैन सीप आँसू तस भरे । जानौ मोति गिरहिं सब ढरे ।।
सखिन कहा बौरी कोकिला। कौन पानि जेहि पौन न मिला ।।
हार गँवाइ सो ऐसे रोवा ।हेरि हेराइ लेइ जौ खोवा ।।
लागीं सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोइ उठी मोती लेइ, काहू घोंघा हाथ ।।७।।
कहा मानसर चाह सो पाई। पारस-रूप इहाँ लगि आई ।।
भा निरमल तिन्ह पायँन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे ।।
मलय-समीर वास तन आई । भा सीतल, गै तपनि बुझाई ।।
न जनो कौन पौन लेइ आवा। पुन्य-दसा भै, पाप गँवावा ।।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चांद बिहँसाना ।।
बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ।।
पावा रूप रूप जस चहा । ससिमुख जनु दरपन होइ रहा ।।
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर ।।८।।

नागमती-वियोग-खंड

नगमती चितउर पथ हेरा। पिउ जो गएउ पुनि कीन्ह न फेरा ।।
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसौं हरा ।।
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात जात बरु जीऊ ।।
भयेउ नरायन बावन करा । राज करत राजा बलि छरा ।।
करन पास लीन्हेउ कै छन्दू। बिप्र रूप धरि झिलमिल इन्दू ।।

मानत भोग गोपिचँद भोगी। लेइ अपसवा जलन्धर जोगी॥
लेइगा कृस्नहि गरुड़ अलोपी। कठिन बिछोह जियहिं किमि गोपी॥

सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह।
झुरि झुरि पंजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह॥१॥

पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोले पिउ पीऊ॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुवा गयउ पिय नामा॥
बिरह वान तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि गइ चोली॥
सूखा हिया हार भा भारी। हरि हरि प्रान तजहिं सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहिं जाइ जिउ होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं सींचहिं चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला॥
प्रान पयान होत को राखा। को सुनाव पीतम कै भाखा॥

आहि जो मारे विरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर महँ, पंख जरा गा भागि॥२॥

पाट-महादेइ हिए न हारू। समुझि जीव चित चेत सँभारू॥
भौंर कँवल सँग होइ मेरावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पपिहै स्वाँती सौं जस प्रीती। टेकु पियास बाँधु मन थीती॥
धरतिहिं जैस गगन सौं नेहा। पलटि आव बरसा रितु मेहा॥
पुनि बसन्त रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली॥
जिनि अस जीव करसि तू वारी। यह तरिवर पुनि उठिहि संवारी॥
दिन दस विनु जल सूखि विधंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा॥

मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जे सहहिं, ते अद्रा पलुहंत॥३॥

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम स्याम धौरे घन आए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए॥
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा॥
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई॥
ओनै घटा आइ चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी॥

दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहे न जीऊ।।
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा।।
जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्व।
कंत पियारा बाहिरें, हम सुख भूला सर्व।।४।।
सावन बरिस मेह अतिवानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी।।
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा। मैं बाउरि कहँ कंत सरेखा।।
रकत के आँसु परे भुइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी।।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ कुसँभि तन चोला।।
बाट असूझ अथाह गँभीरी। जिउ बाउर भा भवै भँभीरी।।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी।।
परबत समुँद अगम बिच, बन बेहड़ घन ढंख।
किमि करि भेंटौं कंत तोहि, ना मोहि पाँव न पंख।।५।।
भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी।।
मँदिर सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा।।
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।।
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी।।
पुरवा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी।।
धनि सूखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ।।
जल थल भरे अपूरि सब, गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ, दै बूड़त पिय टेक।।६।।
लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुँ आउ पिउ यहु तन लटा।।
तोहि देखे पिय पलुहै काया। उतरा चित्त बहुरि करु माया।।
उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा।
चित्रा मित्त मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।।
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुंद्र भाँति सब भरे।।
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुररहिं खँजन देखाए।।
भए बिगास काँस बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले।।

बिरह हस्ति तन सालै, खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु, गाजहु होइ सदूर ॥७॥

कातिक सरद चंद उजियारी। जल सीतल हौं बिरहैं जारी ॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरै सब धरति अकासू ॥
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद भएउ मोहि राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिन कंत पियारा ॥
अबहूँ निठुर आव एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मनोरा पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा ॥

सखि मानहिं तेवहार सब, गाइ देवारी खेलि ॥
हौं का खेलौं कंत बिनु, तेहि रही छार सिर मेलि ॥८॥

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी ॥
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यौं दीपक बाती ॥
काँपा हिया जानवा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रँग लै गा नाहूँ ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई ॥
सियरि अगिनि बिरहैं हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ॥
यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जरम करै भसमंतू ॥

पिय सौं कहेहु सँदेसरा, ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहें जरि गई, तेहिक धुँआ हम लाग ॥९॥

पूस जाड़ थरथर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा ॥
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ ॥
कंत कहाँ हौं लागौं हियरें। पंथ अपार सूझ नहि नियरें ॥
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी ॥
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला ॥
रैनि अकेलि साथ नहि सखी। कैसें जिऔं बिछोही पँखी ॥
बिरह सैचान भवै तन चाड़ा। जीयत खाइ मुँए नहि छाँड़ा ॥

रकत ढरा माँसू गरा, हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, आइ समेटहु पंख ॥१०॥

लागेउ माँह परै अव पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रुई जो झाँपै। हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटे माहाँ॥
एहि माप उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर मोर जोवन फूलू॥
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल आगि लाग सर चीरू॥
टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहिक सिंगार को पहिर पटोरा। गियँ नहिं हार रही होइ डोरा॥

तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई, तन तिनुबर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल ॥११॥

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होई झोरा॥
तरिवर झरैं झरैं बन ढाँखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा॥
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥
फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी॥
जौं पै पियहि जरत अस पावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा॥
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत छार जेऊँ तोरें॥

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं, कंत धरै जहँ पाउ ॥१२॥

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत होइ सगरौ बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मँजीठ टेसू बन राता॥
बौरें आँव फरै अब लागे। अबहु सँवरि घर आउ सभागे॥
सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरे सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे। दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे॥
भर जोवन एहु नारंग साखा। सुवा बिरह अब जाइ न राखा॥

घिरिन परेवा आव जस, आइ परहु पिय टूटि ।
नारि पराएँ हाथ है, तुम बिनु पाव न छूटि ।।१३।।

भा बैसाख तपनि अति लागी । चोला चीर चंदन भौ आगी ।।
सूरुज जरत हिवंचल ताका । विरह बजागि सौंहँ रथ हाँका ।।
जरत बजागिनि होउ पिउ छाँहाँ । आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहाँ ।।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी । आइ आगि सों करु फुलवारी ।।
लागिउँ जरै जरै जस भारू । बहुरि जो भूँजसि तजौं न बारू।।
सरवर हिया घटत नित जाई । टूक टूक होइ होइ बिहाई ।।
बिहरत हिया करहु पिय टेका । दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ।।

कँवल जो बिगसा मानसर, छारहि मिलै सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिय सींचहु आइ ।।१४।।

जेठ जरै जग बहै लुआरा । उठै बवंडर धिकै पहारा ।।
बिरह गाजि हनिवँत होइ जागा । लंका डाह करै तन लागा ।।
चारिहु पवन झँकोरै आगी । लंका डाहि पलंका लागी ।।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी । बिरह कि आगि कठिन असि मंदी ।।
उठै आगि औ आवै आँधी । नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी ।।
अधजर भई मांसु तन सूखा । लागेउ बिरह काग होइ भूखा ।।
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागै । अबहुँ आउ आवत सुनि भागै ।।

परबत समुँद मेघ ससि दिनअर, सहि न सकहिं यह आगि ।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिय लागि ।।१५।।

—×—×—

३. महात्मा सूरदास

विनय

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगै मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिन, निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला-पद गावै ॥१॥

आपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसैं स्वान काँच-मंदिर में भ्रमि-भ्रमि भूँकि पर्‌यो।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिर्‌यौ।
ज्यौं सपने में रंक भूप भयो, तसकर अरि पकर्‌यो।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै आपनु कूप पर्‌यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला में, दसननि जाइ अर्‌यौ।
मर्कट मूठि छाड़ि नहीं दीनी, घर-घर द्वार फिर्‌यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनै जकर्‌यौ ॥२॥

कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
महा पतित, कबहूँ नहिं आयौ, नैकु तिहारे काज।
माया सबल धाम-धन बनिता, बाँध्यो हौं इहि साज।
देखत-सुनत सबै जानत हौं तऊ न आयो बाज।
कहियत पतित बहुत तुम तारे, स्रवननि सुनी अवाज।
दई न जात खेवट उतराई, चाहत चढ़्यौ जहाज।
लीजै पार उतारि सूर कौं, महाराज ब्रजराज।
नई न करन कहत प्रभु, तुमहौ सदा गरीब-निवाज ॥३॥

बाल-वर्णन

कल बल करि हरि आरि परे।
नव रँग विमल नवीन जलधि पर, मानहुँ द्वै ससि आनि अरे।
जो गिरि कमठ सुरासुर सर्पहिं धरत न मन में नैंकु डरे।
ते भुज-भूषन-भार परत कर गोपिनि के आधार धरे।
सूरस्याम दधि-भाजन-भीतर निरखत मुख मुख तैं न टरे।
विबि चन्द्रमा मनौ मथि काढ़े, बिहँसनि मनहुँ प्रकास करे ।।४।।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, करसौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहि अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अँचरा-तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ।।५।।

स्याम कहा चाहत से डोलत ?
पूछे तैं तुम बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत।
पाए आइ अकेले घर मैं दधि-भाजन में हाथ।
अब तुम काकौ नाउ लेउगे, नाहिंन कोऊ साथ।
मैं जान्यो यह मेरौ घर है, ता धोखै मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी काढ़न कौं कर नायौ।
सुनि मृदु बचन, निरखि मुख-सोभा, ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।
सूर स्याम तुम हौ अति नागर बात तिहारी जानी ।।६।।

रूप-वर्णन

मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि-ब्रज भामिनि।

जमुन-पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यो रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भई गुन ग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुंदर तन, आनन्द मन बिस्रामिनि।
खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।
को गति भनें सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यौ कामिनि ॥७॥

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिँ पटतर इक सैन।
राजिव दल इन्दीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये विकसित दिन-राति।
अरुन, स्वेत, सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति, गंगा, जमुना मिलि, आस्रम कीन्हौ आइ।
अवलोकनि जलधार तेज अति, तहाँ न मन ठहराइ।
सूर स्याम-लोचन-अपार-छवि, उपमा सुनि सरमाइ ॥८॥

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरिपूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर घर बेंचति फिरति दही री।
कँह लगि कहौं बनाइ बहुत विधि, कहत न मुख सहसहुँ निवही री
जसुमति-उदर-अगाध-उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम-प्रभु इन्द्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ, गुही री ॥९॥

हरि-मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि-पंकज-लोभी, ताही तैं न उड़ाने।
कुंडल मकर कपोलनि कैं ढिग, जनु रबि रैनि बिहाने।
भ्रुव सुंदर, नैननि गति निरखत, खंजन मीन लजाने।
अरुन अधर, दुज कोटि वज्र-दुति, ससि घन रूप समाने।

कुंचित अलक, सिलीमुख मिलि मनु लै मकरंद उड़ाने।
तिलक ललाट कंठ मुकुतावलि, भूषन मनिमय साने।
सूरस्याम रस-निधि नागर के क्यौं गुन जात बखाने ॥१०॥

मुरली-वर्णन

जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह-व्यौहार थके आरज-पथ, चलत न संक करी।
पद-रिपु पट अँटक्यौ न सम्हारति, उलट पलट उवरी।
सिव-सुत-वाहर आइ मिले हैं, मन-चित्त बुद्धि हरी।
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारंग सुधि बिसरी।
उडुपति, विद्रुम, बिंब, सिखाने दायिनि अधिक डरी।
मिलि हैं स्यामहि हंस-सुता-तट, आनँद-उमँग भरी।
सूरस्याम कौं मिलीं परस्पर-प्रेम-प्रवाह ढरी ॥११॥
मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिं, नाना भांति नचावति।
राखति एक पाँइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन, आज्ञा करवावति, कटि टेढ़ी ह्वै आवति।
अति आधीन, सुजान कनौड़े, गिरधर-नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव सन पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट, हम पर कोपि करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, धरतैं सीस डुलावति ॥१२॥
ग्वालिनि, तुम कत उरहन देहु।
पूछहु जाइ स्याम सुन्दर कौ, जिहि दुख जुर्यौ सनेहु।
जन्मत ही तैं भई बिरत चित, तज्यौ गाउं, गुन गेहु।
एकहि पाउं रही हौं, ठाढ़ी, हिम-ग्रीष्म-ऋतु मेह।
तज्यौ मूल, साखा, पएत्र सब, सोच सुखायी देहु।
अगिनि सुलाकत मुर्यौ न तन मन, विकट बनाबट बेहु।
बकतीं कहा बाँसुरी कहि-कहि, करि-करि तामसि तेहु।
सूर स्याम दहिं भाँति रिझै किनि तुमहुँ अधर रस लेहु ॥१३॥

भ्रमर-गीत

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे ।
बह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे ।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमलनैन मनिआरे ।
मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे ।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे ।।१४।।

हमारे हरि हारिल की लकरी ।
मन बच क्रम नँदनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी ।
जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जकरी ।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी ।
सोई व्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी ।
यह तौ 'सूर' तिन्है लै दीजै जिनके मन चकरी ।।१५।।

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी ।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी ।
मुरली मधुर चैंप कर काँपो मोरचंद्र ठटवारी ।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं सम्हारी ।
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार ।
सूरदास वा कलप-तरोवर फेरि न बैठी डार ।।१६।।

मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ।
मेरो मन, मेरी अलि ! लोचन ले जो गए धूपधूप ।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप ।
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप ।
लेवा-देह बराबर में है, कौन रंक को भूप ।।१७।।

ऊधौ ! मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतौ सो गयौ हरि के संग, को अराध तुव ईस ?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिन सीस ।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहि कोटि बरीस ।
तुम तो सखा स्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस ।
सूरदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ।।१८।।

ऊधौ ! भली करी अब आए ।
बिधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए ।
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए ।
गलन न पाए नयन-नीर तैं अवधि-अटा जो छाए ।
ब्रज करि अँवाँ, जोग करि इंधन सुरति-अगिन सुलगाए ।
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराए ।
भए सँपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहूँ पाए ।
राजकाज तें गए सूर सुनि, नँदनंदन कर लाए ।।१९।।

देखियत कालिंदी अति कारी ।
कहिया, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी ।
मनों पलिका पै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी ।
तटबारू उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी ।
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी ।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी ।
निसिदिन चकई-ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी ।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी ।।२०।।

—×—×—

४. गोस्वामी तुलसीदास

विनय-पत्रिका

जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ।।
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे ।
बूड़्यो मृग-वारि, खायो जेवरी को साँप रे ।।
कहैं वेद बुध तू तौ बूझ मन माहिं रे ।
दोष दुख सपने के जगे ही पै जाहिं रे ।।
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे ।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सभाय रे ।।१।।

कबहूँ मन विस्राम न मान्यो ।
निसिदिन भ्रमर बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो ।
जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुःख, विषम जाल अरुझान्यो ।।
तदपि न तजत मूढ़, ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यो ।।
जन्म अनेक किए नाना बिधि कर्म-कीच चित सान्यो ।
होइ न विमल विबेक-नीर-बिनु, वेद पुरान बखान्यो ।।
निज हित नाथ, पिता, गुरु, हरि-सों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहिं जनम सिरान्यो ।।२।।

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता आस करत ओसकन की ।।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ।।
ज्यों गव काँच बिलोकि सेन जड़, छाँह आपने तन की ।

टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि ! जानत हौ गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु ! हरह दुसह दुख, करहु लाज तिज पन की ॥३॥

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी जागे पुनि न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिन्तामणि उर-कर-ते न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ॥
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसहौं ॥
मन-मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥४॥

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषण बन्धु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भए, मुद मंगलकारी ॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य, प्रान ते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥५॥

मन पछितै है अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु हीते ॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबहीते ।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़ ! त्यागु दुरासा जीते ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग घीते ॥६॥

पुष्प-वाटिका

देखन बाग कुँअर दुइ आये। बय किसोर सब भाँति सुहाए ॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥
सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हियँ अति उतकंठा जानी ॥
एक कहइ नृप सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली ॥
जिन निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी ॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥
तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने ॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥

दोहा—सुमिर सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ॥१॥

कंकन किंकिन नुपूर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्हीं ॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ॥
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सँकुचि निमि तजे दिगंचल ॥
देसि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा ॥
जनु बिरंच सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि दिखाई ॥
सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी ॥

दोहा—सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारी।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहाही ॥२॥

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखी लै आईं। करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं ॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी ॥

जिन्ह कै लहहि न रिपु रन पीठी । नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥
मंगल लहहिं न जिन्ह कै नाहीं । ते नरबर थोरे जग माहीं ॥

दोहा—करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान ।
मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान ॥३॥

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गए नृपकिसोर मनु चिंता ॥
जहँ बिलोक मृगसावक नैनी । जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ॥
लता ओट तब सखिन्ह लखाए । स्यामल गौर किसोर सोहाए ॥
देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥
थके नयन रघुपति छबि देखें । पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें ॥
अधिक सनेह देह भै भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहिं उर आनी । दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी । कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥

दोहा—लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥४॥

सोभा सीवँ सुभग दोऊ बीरा । नील पीत जलजाभ सरीरा ॥
मोर पंख सिर सोहत नीके । गुच्छ बीच बिच कुसुम कलीके ॥
भाल तिलक श्रम बिंदु सोहाए । श्रवन सुभग भूषन छबि छाए ॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे । नव सरोज लोचन रतनारे ॥
चारु चिबुक नासिका कपोला । हास बिलास लेत मनु मोला ॥
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥
उर मनि माल कंबुकल गीवा । काम कलभ कर भुज बल सींवा ॥
सुमन समेत बाम कर दोना । साँवर कुअँर सखी सुठि लोना ॥

दोहा—केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान ।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥५॥

धरि धीरजु एक आलि सयानी । सीता सन बोली गहि पानी ॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू । भूप किसोर देखि किन लेहू ॥

सकुचि सीयँ तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥
परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरू सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलंबु मातु भय मानी॥
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानी॥

दोहा—देखन मिस मृग बिहग तरु फिरबहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥६॥

(**'रामचरित मानस' से**)

भरत-विनय

हित हमारा सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह भातु कुटिलाई॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं॥
सोक समाजु राज केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा॥
जीयँ जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥
जीउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥

दोहा—कैकेयी सुअ कुटिलमति राम बिमुख गत लाज।
तुम चाहत सुख मोह बस मोहि से अधम कें राज॥१॥

कहहुँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥
मोहि राजु हठि देइहहू जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥

राम पुनीत विषय रस रुखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे॥
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहिं लही बड़ाई॥

दोहा—कारन तें कारजु कठिन होई दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥२॥

कैकेयी भव तनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे॥
जौं प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनव बहुत अब आगे॥
लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम टीका॥
कैकइ जठर जनमि जग माहीं। यह मोहि कहँ कुछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥

दोहा—ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु कौन उपचार॥३॥

कैकेइ सुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥
तुम सब कहहु कढ़ावन टीका। राम रजायसु सब कहँ नीका॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥
मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि कै कीन्ह भलाई॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियरामु प्रान प्रिय नाहीं॥
परम हानि सब कहँ बड़लाहू। अदिनु मोर नहिं दूषन काहू॥
संसय सील प्रेमबस अहहू। सबुइ उचित सब जो कछु कहहू॥

दोहा—राम मातु सठि सरल चित मोपर प्रेमु बिसेषि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि॥४॥

गुरु बिबेक सागर जग जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥

सो मैं सुनब सहब सुखु मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥
डरु न मोहिं जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू ॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी ॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा ॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी ॥

दोहा—आपन दारुन दीनता कहहुँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ॥५॥

आन उपाय मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा ॥
एकहि आँकु इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥
जेंहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी ॥

दोहा—जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन ज़ानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस ॥६॥

('रामचरित मानस' से)

—×—×—

५. केशवदास

गणेश-वन्दना

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख कों।
बिपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष कों।
दूरि कै कलंक-अंक भव-सीस-ससि-सम,
राखत है 'केसौदास' दास के बपुष कों।
साँकरे की सांकरनि सनमुख ह्वोत तोरै,
दसमुख मुख जोवें गजमुख मुख कों॥१॥

सरस्वती-वन्दना

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाइ,
ऐसी मति उदित उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तपबृद्ध,
कहि कहि हारे सब कहि न काहू लई।
भावी भूत बर्तमान जगत बखानत है,
'केसौदास' क्यों ना बखानी काहू पै गई।
पति बनैंचारमुख पूत बनैं पाँच मुख,
नाती बनैं षटमुख तदपि नई नई॥२॥

राम-वन्दना

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि—
पूरन बतावैं, न बतावैं और उक्ति कों।
दरसन देत, जिन्हें दरसन समुझैं न,

नेति-नेति कहैं बेद छाँड़ि भेद-जुक्ति कों।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम राम,
रटत रहत न डरत पुनरुक्ति कों।
रूप देहि महिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
नाम देहि महिमाहि, भक्ति देहि मुक्ति कों ॥३॥

अंगद-रावण-संवाद

'कौन के सुत ?' 'बालि के' 'वह कौन बालि ?' ' न जानिए ?
काँख चापि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए ॥'
'है कहाँ वह वीर ?' अंगद देवलोक बताइयो।
'क्यों गयो ?' 'रघुनाथ-बान-बिमान बैठि सिधाइयो ॥१॥

'लकनायक को ?' 'विभीषण, देव दूषण को दहै।'
'मोहि जीवित होहि क्यों ?' 'जग तोहि जीवित को कहै।'
'मोहि को जग मारिहै ?' 'दुर्बुद्धि तेरिय जानिए।'
'कौन बात पठाइयो कहि वीर बेगि बखानिए' ॥२॥

अंगद : राम राजान के राज आए इहाँ,
धाम तेरे महाभाग जागे अबै।
देवि मन्दोदरी कुंभकर्णादि दै,
मित्र मंत्री जिते पूछि देखौ सबै ॥
राखि जै जाति कों, पाँति कों, बंस कों,
साधि जै लोक में लोक-परलोक कों।
आनि कै पाँ परौ देस लै, कोस लै,
आसु हीं ईस सीता चलैं ओक कों ॥३॥

'राम को काम कहा ?' 'रिपु जीतहिं'
'कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?'
'बालि बली' 'छल सों' 'भृगुनन्दन

गर्व हर्‌यो', 'द्विज दीन महा ।।'
'दीन सो क्यों ? छिति छत्र हत्यो
बिन प्राननि हैहयराज कियो ।'
'हैहय कौन ?' 'वहै बिसर्‌यो ?' जिन
खेलत ही तुम्हैं बाँधि लियो' ।।४।।

अंगद : सिंधु तर्‌यो उनको वनरा, तुम पै धनुरेख गई न तरी ।
बानर बाँधत सो न बँध्यो, उन वारधि बाँधि के बाट करी ।
अजहूँ रघुनाथ प्रताप की बात तुम्हें दसकंध न जानि परो ।
तेलनि तूलनि पूँछ जरी न जरी, जरी लंक जराह जरी ।।५।।

रावण : नील सुखेन हनू ऊनके नल और सबै कपि पुंज तिहारे ।
आठहु आठ दिसा बलि दै अपनो पदु लै, पितुजा लगि मारे ।
तोसो सपूतहि जाइ कै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे ।
अंगद संग ले मेरौ सबै दल, आजुहि क्यों न हनै बपुमारे ।।६।।

अंगद : सत्रु, सम, मित्र हम चित्त पहिचानहीं ।
दूत विधि नूत कबहूँ न उर आनहीं ।।
आप मुख देखि अभिलाष अभिलाषहू ।
राखि भुज सीस, तब और कहं राखहू ।।७।।

रावण : महामीचु दासी सदा पाइँ धोवै ।
प्रतीहार ह्वै कै कृपा सूर जोवै ।।
छपानाथ लीन्हे रहे छत्र जाको ।
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको ।।
सका मेघमाला, सिखी पाककारी ।
करैं कोतवाली महादण्ड धारी ।।
पढै वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके ।
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताके ।।८।।

अंगद : पेट चढ़्यो, पलना पलिका चढ़ि,
पालकि हू चढ़ि मोह मढ़्योरे ।
चौक चढ़्यो, चित्रसारी चढ़्यो,
गज बाजि चढ़्यो, गढ़ गर्ब चढ़्यो रे ।
ब्योम बिमान चढ़्योई रह्यो,
कहि केसव सो कबहूँ न पढ़्यो रे ।
चेतन नाहिं रह्यो चढ़ि चित्त सो,
चाहत मूढ़ चिताहू चढ़्यो रे ।।६।।

—×—×—

६. बिहारीलाल

भक्ति

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परे, स्यामु हरित दुति होइ ।।१।।

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज-मग, पग-पग होतु प्रयागु ।।२।।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ ।।३।।

मैं तपाइ त्रय-ताप सौं, राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आएँ यहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ।।४।।

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यो, इहिं धरहरि चितलाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ।।५।।

रूप-वर्णन

मकराकृति गोपाल कै, सोहत कुण्डल कान।
धँस्यो मनौ हिय-घर समरु, ड्योढी लसत निसान ।।६।।

कहत सबै, बैंदी दियें, आँकु दसगुनो होतु।
तिय लिलार बैंदी दियैं, अगनितु बढ़तु उदोतु ।।७।।

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत ।।८।।

लसतु सेत सारी-ढप्यो, तरल तर्‌यौना कान।
परयो मनौ सुरसरि-सलिल, रवि-प्रतिबिम्बु बिहान ।।९।।

भूषन-भारु सँभारिहै, क्यौं इहि तन सुकमार।
सूधै पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार ।।१०।।

नेत्र-वर्णन

जोग जुगति सिखए सबै, मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता, काननु सेवत नैन ॥११॥
खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार ॥१२॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनुन हीं सब बात ॥१३॥
झूठे जानि न संग्रहे, मन मुँह निकसे बैन।
याही ते मानहु किए, बातुन कौं विधि नैन ॥१४॥
मानहु विधि तन-अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग-पौंनन कौं कियो, भूषन पायंदाज ॥१५॥

शृंगार

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल ॥१६॥
दृग उरझत, टूटत कुटुँब, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति ॥१७॥
कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पखानु।
नातरु कत इन बिय लगत, उपजतु विरह-कृसानु ॥१८॥
तज्यो आँच अब बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भीजि।
नैननु कै मग जलु बहै, हियो पसीजि पसीजि ॥१९॥
हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सबु गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाउँ ॥२०॥
तर झरसी, ऊपर गरी, कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय पाती बिनहीं लिखी, बाँची बिरह-बलाइ ॥२१॥

अन्योक्ति

अजौं तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यो, बसि मुकुतनु कैं संग ॥२२॥

स्वारथु सुकृत न, श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज, पराए पानि परि, तू पच्छीनु न मारि ।।२३।।
को छूट्यो इहिं जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यो चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात ।।२४।।
इहीं आस अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनु वे फूल ।।२५।।

प्रकीर्ण

चुवत स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थच्यो बटोही बाइ ।।२६।।
रनित भृंग-घंटावली, झरति दान मधु नीर।
मंद मंद आवतु चल्यो, कुंजरु कुंज-समीर ।।२७।।
इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै, बै-नै चढ़ती बार ।।२८।।
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़ैं जहाँ हजारु।
बहै सदा पसु-नरन कौं, प्रेम-पयोधि पगारु ।।२९।।
तन्त्री-नाद, कबित्त-रस, सरग राग रति-रंग।
अन बूड़े, बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ।।३०।।

—×—×—×

७. घनानन्द

सवैया

तब तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हिय-पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महादुख दोष-भरे ।।
घन-आनँद मीत सुजान बिना, सब ही सुख-साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे ।।१।।

अकुलानि के पानि पर्‌यो दिनरातु सु ज्यौं छिन कौन कहूँ लहरै।
फिरिबौई करै चित चेटक चाक लौं धीरज की ठिकु क्यौं ठहरै ।।
भये कागद-नाव उपाय सबै घनआनन्द नेह-नदी गहरै।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी, बिरहा-विष की लहरै ।।२।।

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन, जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु-चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ ।।
ऐसो हियौ-हित-पत्र पवित्र जु, आन-कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनँद जान, अजान लौं टूक कियौ पर बाँचि न देख्यौ ।।३।।

क्यौं हँसि हेरि हर्‌यो हियरा, अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे कों बोलि सुधासने बैननि, चैननि मैन-निसैन चढ़ाई ।।
सो सुधि मो हिय मैं घन आनँद, सालति क्यौं हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीति की पाटी, इते पै न जानियै कौनें पढ़ाई ।।४।।

अति सूधौ सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौं, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं ।।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तैं दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ।।५।।

इतबाँट परी सुधि, रावरे भूलनि, कैसें उराहनौ दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई, जु कछु मन भाइ सु कीजियै जू ॥
घनआनंद जीवन-प्रान सुजान, तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हें चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजियै जू ॥६॥

कवित्त

एरे बीर पौन, तेरो सबै, ओर गौन, बीरी,
तो सो और कौन, मनैं ढरकोंही बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान, घन—
आनन्द-निधान, सुखदान दुखयानि दै ॥
जान उजियारे गुन-भारे, अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठ पहिचानि दै।
बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा! नैंकु आनि दै ॥७॥

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैड़ें परे पापी ये कलापी निसद्यौस ज्यौंही,
चातक, घातक त्यौं ही तू हूँ कान फोरि लै ॥
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ॥८॥

पीरी परी देह छीनी राजत सनेह-भीनी,
कीनो है अनंग अंग-अंग रंग-बोरी सी।
नैन पिचकारी ज्यौं चल्यौई करैं दिन रैन,
बगराए बारनि फिरति झकझोरी सी ॥

कहाँ लौं बखानौं घनआनँद दुहेली दसा,
फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी ।
तिहारे निहारे बिन प्राननि करति होरा,
बिरह-अँगारनि मगारि हिय होरी सी ।।९।।
आसा-गुन बाँधि कैं भरोसो-सिल धरि छाती,
भरे पन-सिंधु मैं न बूड़त सकायहौं ।
दुःख-दव हिय जारि, अन्तर उदेग-आँच,
रोम-रोम त्रासनि निरंतर तचायहौं ।।
लाख-लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि,
साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं ।
ऐसें घनआनँद गही है टेक मन माँहि,
एरे निरदई तोहि दया उपजाय हौं ।।१०।।
राति-द्यौस कटक सजे ही रहैं दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की ।
लयौ घेरि औचक अकेलौ कै विचारो जीव,
कछू न बसाति यौं उपाय बल-हारे की ।।
जान प्यारे लागी न गुहार तौ जुहार करि,
जूझिहै निकसि टेक गहैं पन धारे की ।
हेत-खेत धूरि चर-चूर ह्वै मिलैगी, तब
चलैगी कहानी घनआनँद तिहारे की ।।११।।
भए अति निठुर मिटाय पहिचानि डारी,
याही दुख हमैं जक लागी हाय हाय है ।।
तुम तो निपट निरदई गई भूलि सुधि,
हमैं सूल-सेलनि सो क्यों हूँ न भुलाय है ।।
मीठे-मीठे बोल बोलि, ठगी पहिलैं तौ तब,
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है ।
सुनी है कै नाहीं यह प्रगट कहावत जू,
काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है ।।१२।।

—×—×—

८. भूषण

शिवराज-महिमा

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल-राज है ।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज है ।
दावा द्रुम-दण्ड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है ।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है ।।१।।

गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नाग-जूह पर सिंह सिरताज को ।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
पच्छिन के कुल पर दावा सदा बाज को ।।
'भूषन' अखंड नवखंड महिमंडल में,
तम पर दावा रवि किरन-समाज को ।
पूरब पछाँह देस, दच्छिन ते उत्तर लौं,
जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को ।।२।।

वारिधि के कुंभभव, घनबन दावानल,
तरुन तिमिर हू के किरन-समाज हौ ।
कंस के कन्हैया, कामधेनु हू के कंटकाल,
कैटभ के कालिका, विहंगम के बाज हौ ।।

'भूषन' भनत जम-जालिम के सचीपति,
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज हौ ।
रावन के राम, कार्तवीर्य के परसुराम,
दिल्लीपति-दिग्गज के सेर सिवराज हौ ॥३॥

चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठैं बार-बार,
दिल्ली दहसति चिते चाह करखति है ।
बिलखि बदन बिलखति बिजैपुरपति,
फिरति फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर-थर काँपत कुतुबसाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती धरकति है ॥४॥

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारीं,
ऊँचे घोर मन्दर के अँदर रहाती हैं ।
कंदमूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वे तीन बेर खाती हैं ।
भूखन सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं ते वे बिजन डुलाती हैं ।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती तें वे नगन जड़ाती हैं ॥५॥

दारा की न दौर यह रारि नाहिं खजुवे की,
बाधिबो नहीं है किधौं मीर सहबाल को ।
मठ विश्वनाथ को न वास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा न मन्दिर गोपाल को ॥
गाढे गढ़ लीन्हें और बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को ।

बूड़ति है दिल्ली सो सँभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥६॥

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।

'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी-नद मद गैबरन के रलत हैं॥

ऐल-फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत हैं।

तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं ॥७॥

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के।

नग भहराने ग्राम नगर पराने, सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥

हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन कौ भजाने अलि छूटे लट केस के।

दल के दरारन ते कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के ॥८॥

छत्रसाल-प्रशंसा

भुज-भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।

बखतर पाखरन बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के॥

रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के।

पच्छी पर-छीने ऐसे परे पर-छीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ।।६।।

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को ।

जाहि के प्रताप सों मलिन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को ।।

साज सजि गज-तुरी पैदर कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ?

और राजा राव एक मन मैं न ल्याऊँ अब,
साहू कौं सराहों कै सराहौं छत्रसाल को ।।१०।।